लक्ष्मीनारायण लाल

की प्रमुख कहानियाँ

लक्ष्मीनारायण लाल
की
प्रतिनिधि कहानिया

किताब घर
शीलतारा हाउस, 24/4866, अंसारी रोड
दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

ISBN—81-7016-024-3

© श्रीमती आरती लाल, नई दिल्ली

प्रकाशक
किताबघर
अंसारी रोड, दरिया गंज, नयी दिल्ली-११०००२

प्रथम संस्करण
१९८९

मूल्य
पचास रुपये

आवरण
इमरोज

फोटो कम्पोजिंग
चित्रगुप्त प्रिंटिंग प्रैस
५३९, कुंचा पातीराम
सीताराम बाजार, दिल्ली-११०००६ दूरभाष : ७३१५५५

LAXMINARAIN LAL KI PRATINIDHI KAHANIAN
(HINDI)
Price : Rs. 50.00

क्रम

मेरी अपनी भूमिका/७
पात्र नहीं चरित्र/१५
सूने अँगन रस बरसै/२६
राम जानकी रोड/४३
द्रौपदी/५८
बन्द कमरा/७५
अश्वमेध का घोड़ा/८६
रामलीला/९७
गगन महल/११२
थाना बेलूरगंज/१२६
सुन्दरी/१४८
डाकू आये थे/१६०
आत्मकथन/१६८

मेरी अपनी भूमिका

अपनी कहानियों का एक ऐसा संग्रह तैयार करते हुए मुझे आज कुछ बातें याद आ रही हैं। जब से मैंने कहानी लिखनी शुरू की, तब से आज तक इस यात्रा में मेरे अनुभव क्या रहे हैं? मैंने क्यों कहानी लिखनी शुरू की? लिखकर क्या पाया?

यही पाया कि कहानीकार बनना पड़ता है। कथाकार होना पड़ता है। पर इसकी चर्चा अंत में करूंगा। पहले—जब से कथा-यात्रा शुरू हुई, तब से आज तक कहानीकार ने अपनी रचना के द्वारा पाठक और समाज को क्या दिया और उससे क्या पाया? इसके साथ ही एक और महत्त्वपूर्ण बात सहज ही आ जुड़ती है— कैसे दिया और कैसे पाया? इस तरह पूरी बात यह है कि—

क्या दिया?

किसे दिया?

और कैसे दिया?

इसका दूसरा पक्ष यह कि क्या मिला, किससे मिला और कैसे मिला? इस देने-लेने का प्रेय क्या और श्रेय क्या था? हिसाब लगाया जाय तो यह देना-पावना बड़ा ही दिलचस्प होगा। अपने आप से अलग हटकर यह हिसाब देना-लेना निश्चय ही अपने कहानीकार के चरित्र का मूल्यांकन होगा। और आज यह कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है।

इस संबंध में पहले तथ्य निरूपण। मैंने उन्नीस सौ चौवन से कहानी लिखना शुरू किया और अब तक कहानियां लिख रहा हूं। अपने कृतिकार के इसी उदाहरण में मैंने इस संकलन में उन्नीस सौ पचपन से लेकर उन्नीस सौ पचासी तक अपने रचना-काल, या कहानी-यात्रा की कुल बारह कहानियां सविनय प्रस्तुत की हैं। निश्चय ही ये कहानियां मेरे पाठकों को अत्यंत प्रिय रही हैं और स्वभावतः मुझे भी। स्वभावतः मुझे क्यों? यही मर्म की बात है।

कहानी कहीं मूलतः वही कथा है— एक कहता है, एक सुनता है। भाषा और अभिव्यक्ति का भी यही मर्म है— एक बोलता है, दूसरा सुनता है। इस बोलने-सुनने का सेतु है वह विषय, वह बात, वह अनुभव जो एक-दूसरे से निवेदन करता है, कहता है, समानधर्मा होना चाहता है। व्यक्ति होकर जो अनुभव किया है उसे दूसरों से निवेदन कर, कहकर, सुनाकर वह व्यक्ति से सामाजिक होना चाहता है। कोई बात, कोई भाषा, कोई रचना तभी सम्पूर्ण होती है, जब वह दूसरों से अनुभूत होकर कहने वाले, रचनाकार के पास वापस लौटती है। आकर फिर जाती है। जाकर फिर आती है। रेखा में केवल लम्बाई होती है। पर वही रेखा जब लौट-घूम कर वृत्त हो जाती है तो उसके घेरे में न जाने कितना समाहित हो जाता है।

मेरे लिए कहानी रेखा नहीं है, एक गोलाई है, वृत्त है जिसमें जीवन भरा होता है। मैंने कभी भी बुद्धि से कहानी नहीं लिखी, अनुभव से लिखी। मेरे लिए वह अनुभव क्या है? क्या रहा है? जो अनुभूत है, उसे लिखने की ऐसी अनिवार्यता क्यों पड़ी? जब अनुभव-घट भर जाता है, तब छलक कर बहने लगता है। जो छलक कर बह पड़ता है, वह तो बहाव है। कहानी लिखना मेरे लिए वह बहना नहीं है। मेरे लिए कहानी लिखना उस छलकते हुए अनुभव रस को, पूर्ण जतन से एक अन्य घट में डालना और सम्हाल कर परस देना है— ताकि दूसरा कोई उसे पा सके, पी सके। यही है मेरे रचनाकार व्यक्ति का सामाजिक होना। बनना नहीं, होना। बना बुद्धि से जाता है, हुआ हृदय से जाता है।

मुझे याद है— इस संकलन की मेरी दूसरी कहानी 'सूने अंगन रस बरसै' इलाहाबाद में धर्मवीर भारती ने कितने प्रेम से उस समय 'निकष' प्रथम में छापी थी। इसे 'कथा' कहा था और बड़ी प्रशंसा की थी। और जब आगे इसी तरह की और कहानियां पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं तो अन्य कहानीकारों ने कहना शुरू किया कि ये 'आधुनिक' नहीं हैं। तब मैं पहली बार यह जानने को जिज्ञासु हुआ कि यह आधुनिक क्या है भला! यों बुद्धि और तर्क से मैं थोड़ा जान चुका था कि आधुनिक कहानी क्या होती है। संयोग से उन्नीस सौ बावन में प्रयाग विश्वविद्यालय से कहानियों की शिल्पविधि पर डाक्ट्रेट कर चुका था। पर जब खुद कहानीकार होने लगा तब मैं स्वभावतः यह अनुभव करने के लिए व्याकुल हो उठा कि वह 'आधुनिक' क्या है? ईश्वर की कृपा से, अपने अथक परिश्रम से पाया कि वह आधुनिक क्या है। उसके असली-नकली दोनों रूप देखे, पाये। पाया कि आधुनिक बनना है। जीवन होना है। कहानी बनाई जाती है। कथा होती है। कहानी पश्चिम है। कथा भारतीय है। हर तरह से, पूर्ण रूप से अनुभव और अभिव्यक्ति में ईमानदार होना कथा है। 'होना' और 'बनना' में जो फासला है, जो अंतर है वही है कथा-कहानी में अंतर। उसी में आधुनिक भारतीय कथा-यात्रा की राहें चली हैं, निकली हैं और भटकी हैं।

बनता वही है, जो प्रभावित होता है। प्रभाव के लिए केवल आधुनिक पश्चिमी कथा साहित्य है। होता वही है, जो यह देख लेता है कि वह खुद क्या है, कहां है, कैसे है। देखना यहां अनुभव करना है। बनना यहां केवल सोचना है। अनुभव अपने जीवन से आता है। सोचना दूसरे के भय से होता है। दूसरा मुझे क्या कहेगा, यही है भय, यहीं से पैदा होता है सोचना। मैं जो हूं, वही हूं— जो मैं जीता हूं। वही मेरा अपना है। यहीं से मिलता है अनुभव। यही है कथाभूमि अपनी।

सोचना आसान है, अनुभव करना बहुत ही कठिन है। और उस अनुभव को अभिव्यक्ति देना और भी कठिन है। मेरे लिए कहानी नहीं कथा लिखना इसी अर्थ में चुनौती है। अनुभव मैं करता हूं। अभिव्यक्ति तभी हो सकती है, जब मैं अपने 'मैं' से अलग हो सकूं।

मेरा विश्वास है हमारे यहां की कथाकार व्यास परम्परा संसार के कथा साहित्य में एक अनुपम, विधा और विद्या है। कथाकार की उसी महिमा में यह स्पष्ट दिखता है कि क्या होता है कथाकार का अपने 'मैं' से अलग होना। क्या है व्यष्टि से समष्टि होना और क्या है कथाकार का अंततः इस प्रक्रिया से न्यायकर्ता हो जाना। न्यायकर्ता ही शिव हैं। हमारे यहां उस कथाकार परम्परा में पहले हैं ब्रह्मा—सृष्टिकर्ता, फिर हैं विष्णु—पालनहार, और फिर हैं शिव—न्यायकर्ता। कथाकार व्यास परम्परा में अंततः शिव को कथाकार कहना इसी बुनियादी सत्य की ओर संकेत है कि कथा कह ही वह सकता है जो अपने 'मैं' से मुक्त हो। जो दूसरों से जुड़ा हो, जो न्यायकर्ता हो। शिव कौन है? जो जीवन-विष-अनुभव पान कर अमृत स्वरूप हुआ हो। भूत, तम, असुर, मृत्यु, विष, सर्प—ये सब पर्यायवाची हैं। शिव ने इन सबको अपने वश में किया है। इसका सहज आशय है कि कथाकार शिव वही है जो इतने जीवन-अनुभवों का स्वामी हो। व्यास या शिव कथा की प्रकृति क्या है? हार्दिकता और निःसंगता या वैराग्य। जो व्यक्ति अपने जीवन, हृदय की पूरी शक्ति लगाता है, वही होता है भोक्ता और प्राप्त करता है अनुभव। और जो उससे निःसंग होकर उसे अभिव्यक्त करता है, वही है कथाकार।

मेरे कहानीकार का जो 'मैं' था, उसे आज मैं देख रहा हूं। उसे आज मैं तीन चरणों में पाता हूं। पचपन से साठ तक का मैं, साठ से सत्तर तक का और सत्तर के बाद का मैं। पहले चरण का मैं भावुक था, दूसरे का मैं भोक्ता था और इसके बाद का मैं साक्षी हो गया। साक्षी होकर जब मैंने अपने आप को देखा तो एक विचित्र बात पायी—मैं तो कर्त्ता ही नहीं था, फिर भोक्ता कैसे हुआ? जब हुआ नहीं तभी तो बनना पड़ा। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात मेरे हाथ लगी। इसी से प्रकाश में आया—हम होते नहीं बनते हैं। तभी तो आधुनिकता का झूठ, अहंकार ओढ़े रहते हैं। बनने के लिए स्वभावतः हमें न जाने क्या-क्या ओढ़ना पड़ता है। ताकि हम मान लिए जायं। दूसरे हमें बडा. विशिष्ट स्वीकार कर लें। बस, दूसरों से उस मान्यता, स्वीकृति

के बाद ही हम स्वभावतः लिखना (बनना) छोड़ देते हैं। पर पूर्णतः छोड़ भी नहीं पाते। क्योंकि बराबर यह भय बना रहता है कि कोई आकर मुझे मेरी जगह से धक्का देकर वहां से हटा देगा। या मैं खुद अपनी जगह से गिर-हट रहा हूं— इस भय के कारण तब हम रचना न कर उसके आंदोलन में लग जाते हैं। नये-नये नाम, नये-नये नारे, अनेक तर्क-जंजाल खड़े करते हैं। कहानी मर गयी, कहानी संदर्भहीन हो गयी, कहानी अपूर्ण हो गयी, चुक गयी, आदि-आदि फतवे हम देना शुरू करते हैं। क्योंकि कहानी तो पश्चिम की थी। हमारी कहानी वह कहां थी? हमारी तो कथा है। कथा थी।

कथाकार। वही मैं आज भी हूं और वही होता रहना चाहता हूं। जो इससे अतिरिक्त चाहता है, उसे बनना पड़ेगा।

मैं अपने बचपन में अपने साथियों से घिरकर कथा सुनाया करता था— बहुत लंबी-लंबी लोक, पुराण, धर्म कथायें सुनाता। उनमें न जाने कितना क्या-क्या जोड़ता। न जाने क्या-क्या हो जाता।

जब मैं लिखने लगा, तब भी वही कथाकार मेरे साथ था— पर आज, जब मैं अपने 'मैं' को देखना शुरू कर चुका हूं तब मैं अपने आप से पूछता हूं कि बचपन में और बाद में (पहले और दूसरे चरण में) वह मैं कथाकार, कहानीकार क्यों? किसलिए? कैसे? उत्तर पाता हूं— मैं छोटा था, बड़ा बनना चाहता था। मैं साधारण था, विशेष साबित होना चाहता था। अस्थापित था, स्थापित होना चाहता था।

सौभाग्य से यह बात आज मेरे सामने स्पष्ट हो गयी है कि यह धरातल न तो कर्त्ता मनुष्य का ही है, न उसके रचनाकार का ही। यह क्रिया नहीं, प्रतिक्रिया है।

मैं क्या पाता हूं? लोग कहते हैं मैं लिखकर समाज को, पाठक को देता हूं— दृष्टि, चेतना, मानव आदर्श— अपने भोगे हुए जीवन-अनुभूति से उन्हें जीवन-सत्य देता हूं। इससे बड़ा घमंड और भ्रम और क्या हो सकता है?

मैं देता नहीं, पाता हूं। क्या? यही कि मैं जी ही नहीं पा रहा हूं। यही कि मैं भोग ही नहीं पा रहा हूं—इतने अभाव, भय, कुसंस्कारों का व्यक्ति हूं मैं। तभी तो मैं लिखता हूं।

लिखना मेरे लिए अहंकार था, भावुकता थी, मैं वह कुछ बनना चाह रहा था जो नहीं था, नहीं तो उसकी इच्छा क्यों जगती ? यही मैं दे रहा हूं। किसे ? पाठक को ? समाज को ? जी नहीं, अपने आप को दे रहा हूं। अपने आप से पा रहा हूं और अपने आप को दे रहा हूं। यह अबाध धारा जहां से फूट रही है, जहां जिस सागर से मिलकर फिर मूल स्रोत को लौट रही है— यह आवर्तन, प्रत्यावर्तन, यह वृत्त, यह परिक्रमा, यही है मेरा 'मैं' जिसे लक्ष्मीनारायण लाल नामक एक व्यक्ति तत्पर और चैतन्य हो देख रहा है।

मैं इस क्षण एक प्रश्न पूछता हूं— मूलतः अपने आप से और सब से। क्या कहानी-लेखक स्वयं अपने आप में कहानीकार है ? वह जो कहानी लिखता है, लिखकर जो बात, जो अनुभूति, जो जीवन-मूल्य दूसरों को देना चाहता है, उसे क्या वह खुद लेता है ? उसके लेखन और उसके मनुष्य में क्या कोई सादृश्य है ? कहता है मैं यथार्थ भोग रहा हूं और जीता होता है वह एक नकली झूठा आदमी, चापलूस, तिकड़मी। और सदैव अपने आप को जमाये रखने का उसका दंभ उसे हास्यास्पद करता है। यह जो अंतर है (अलगाव नहीं उसके मैं और उसके लेखन में) यही है वह रहस्य, मर्म जहां कहानीकार केवल बनता है, वह होता नहीं।

अगर भोक्ता नहीं, तो अभिव्यक्ति कैसी ?

मैं कहानीकार हूं। समाज के लिए, जनता और आम आदमी का, उसके लिए लिखता हूं— यह केवल अपने आप को परिभाषित करने का छल है, आधुनिकता का दंभपूर्ण विधान है। फिर तो मुझे अपने कहानीकार बन जाने की परिभाषा इतने सस्ते ढंग से मिल गयी, फिर आगे क्या लिखना ?

दरसल हम सब मध्यवर्ग से आये कहानीकार बने हैं। मध्यवर्ग के सारे संस्कार हमारे लेखक पर बुरी तरह से हावी हो रहे हैं। जैसे कहीं नौकरी करते हैं, बिकते हैं, उसी तरह कहानियां भी लिखते हैं। लिखते समय एक और कुंठा, व्याधि अपने इस व्यवसाय, 'कैरियर' के लिए अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं— जनता का, पाठक का कल्याणकर्ता बनने का। पर सही बात यह है कि दूसरों के कल्याण करने में हमें बड़ी

आसानी से अपनी परिभाषा, अपना पद मिल जाता है। हमें जैसे ही पद प्राप्त हुआ, हम वह लिखना भी छोड़ देते हैं। यही नहीं, उस माध्यम, उस विधा, उसकी गरिमा को खंडित करने में लग जाते हैं।

काश हम कहानीकार खुद अपने कल्याणकर्ता हो पाते! पर आज इतनी कहानियां लिखने के बाद मुझे अनुभव हुआ है 'मैं' कभी भी कल्याणकर्ता नहीं हो सकता। 'मैं' का मतलब ही है डरा हुआ, छोटा, सबसे अलग। उसी छोटे को, भयभीत को, खंडित को, हम खुद नहीं, देखते, उसका सामना नहीं करते, मतलब उसे स्वीकार नहीं करते और अपने लेखन और जीवन में हम सदा 'बड़ा' 'निर्भय' बनने का प्रयत्न करते हैं। जो है ही नहीं, वह कैसे हो सकता है ? जो है, उसी की स्वीकृति 'होना' है।

ओहो, आप कहेंगे मैं दर्शन बघारने लगा। अहंकार के खिलाफ लिखते हुए खुद अहंकारी हो गया। यही तो सच्चाई है। भीतर इतनी प्रतिक्रियाएं जमा हैं, अहंकार-जनित इतनी विकृतियां हैं कि क्या कहूं! हारकर तभी तो शिव-शिव जपने लगता हूं। 'भवानी शंकरौ बंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ'।

सच कहता हूं— इस अहंकार से सिर्फ कहानी, नई कहानी, अकहानी और न जाने कैसी-कैसी कहानी ही लिखी जा सकती है। कथा लिखना नहीं होता। कथा तो होना पड़ता है।

कथा में अपना एक आदि और अंत होता है। कहानी में न आदि है, न अंत। कहानी मनुष्य बनाता है अपने आप को सही साबित करने के लिए। अपने आप को लेखक नहीं, रचनाकार सिद्ध करने के लिए। कहानी 'मैं' की दुनिया है, जो आधुनिक मनुष्य द्वारा बनाई जा रही है। उसमें 'मैं' के विचार हैं। मैं के इतिहास-निर्माण, भविष्य-निर्माण की बातें हैं। उसकी नई कहानी में 'एक्शन' है पर 'स्पीच' नहीं है। 'स्पीच' है तो 'एक्शन' नहीं है। कहानी में संगीत नहीं है, सन्नाटा है। लोग चुप हैं। सिर्फ सोचते हैं—त्रिभुजाकार स्थिति में। लोग चरित्र हैं। लोग चुपचाप देखते रहते हैं। लोगों में परस्पर संबंध नहीं हैं।

लोगों की कहानी में हिस्सेदारी नहीं है। वे मूक दर्शक हैं। कहानी 'मैं' की है। 'तुम' और 'वे' लोग अनुपस्थित हैं। 'मैं' प्रतीक्षा

करता है, पश्चिम में कुछ हो, 'मैं' वही बनने की नाकाम कोशिश में लग जाऊं। कहानी केवल तर्क पर खड़ी है, तभी तक जब तक कोई दूसरा तर्क आकर उसे उड़ा न दे। कहानी सिर्फ एक बार पढ़ने के लिए है, याद रखने के लिए नहीं। क्योंकि कहानी नई से नई कहानी होने को अभिशप्त है, जिसका कोई आदि-अंत नहीं है।

कथा इसी का दूसरा छोर है। कथा प्राचीन हो सकती है पर पुरानी नहीं हो सकती। कथा कभी भूलती नहीं। कथा बार-बार कही और दोहराई जाती है,। कथा स्मृति है। कथा में कहानी की तरह चरित्र नहीं होते, पात्र होते हैं। कहानी की तरह कथा में घटनाएं नहीं होतीं। कथा में कार्य होते हैं। कार्य के साथ संवाद भी, बोलचाल परस्पर। कथा तर्क पर नहीं विश्वास और सबके अनुभव पर स्थिर हैं।

कहानी बनती है। कथा होती है। कहानी 'मैं' है। कथा परंपरा है। कहानी आधुनिक है। कथा सनातन है। मैं कथा नहीं हो पा रहा हूं, यही मेरी अपनी भूमिका है।

लक्ष्मीनारायण लाल

पात्र नहीं चरित्र

"यह कौन ?"

".....।"

"यह कौन था ?"

"....."

"बोलती क्यों नहीं ?"

दद्दा जी की पत्नी ने अपने चश्मे को उतारकर उसे आंचल से साफ करते हुए कहा– "सुमित्रा जी हैं।"

"कौन सुमित्रा जी ?"

"लखनऊ के रहने वाले हैं।"

पूरे साठ साल के दद्दा जी अपनी पचास साल की धर्मपत्नी से जितने ही प्रश्न पूछते जा रहे थे, उतनी ही बात उलझती चली जा रही थी। सवाल निहायत साफ था। पर प्रश्न मामूली नहीं था, इसे पति-पत्नी दोनों समझ रहे थे, अंतर सिर्फ इतना था, एक प्रश्नकर्ता था दूसरे को जवाब देना था। पर जवाब तैयार करने, उसे देने के लिए थोड़ा वक्त चाहिए था।

वक्त था। बल्कि जरूरत से ज्यादा ही वक्त था। दद्दा जी पूरे तीन महीने के विदेश भ्रमण की बात करके गोलागंज से विदा हुए थे। कहां फतेहपुर का गोलागंज बाजार, कहां लखनऊ, फिर दिल्ली,

दिल्ली से नयी दिल्ली, नयी दिल्ली से बड़ौदा, सूरत, महाराष्ट्र फिर बंबई और बंबई से विदेश यात्रा, समुद्र यात्रा और सात समुन्दर पार पोर्टलुई-मारीशस। पूरे गोलागंज से कहकर गये थे कि कम से कम तीन महीने लगेंगे फिर स्वदेश लौटने में। और लौट आये ठीक अठारहवें दिन। किसे अनुमान था, इत्ते जल्दी घर लौट आयेंगे दद्दा जी! कहकर गये थे, विश्व भ्रमण के लिए जा रहा हूं—आर्य सभ्यता और संस्कृति की तलाश में। और नहीं तो क्या.....।

मझली लड़की मधु साढ़े तीन बजे कालेज से घर लौटी। दद्दाजी से नमस्कार करके सीधे उसी बरामदे वाले कमरे में चली गयी। थोड़ी देर बाद आयी सबसे छोटी लड़की कनक। स्कूल का झोला आंगन की खाट पर फेंककर उसी कमरे में वह भी दौड़ी चली गयी। पहले एक रेडियो बज रहा था, अब दो बजने लगे। मधु और कनक दोनों लड़ने लगी हैं, न जाने किस बात पर।

बाप रे बाप, इत्ता शोर!

दद्दाजी अपने कमरे में लेटे किवाड़ के पीछे से देख रहे हैं सारा नजारा। कनक हाथ में बटुआनुमा छोटा सा ट्रांजिस्टर लिये उस कमरे से निकलकर आंगन की खाट पर बैठ जाती है। ट्रांजिस्टर बजने लगता है। बड़ा रेडियो कमरे में मधु बजा रही है।

मधु कमरे में से चिल्लाकर कहती है— "देखो मां, छोटी मुझे तंग कर रही है। जो मैं बजाती हूं, वही यह भी बजाती है।"

मांजी आती हैं।

कनक के पास मोढ़े पर मजे से बैठ जाती हैं।

"बिटिया, तू भजन गाने वाला रेडियो स्टेशन लगा!"

"नहीं मां, विविध भारती में फिल्मी गाने आ रहे हैं! डिंपल कपाड़िया पेश कर रही हैं।"

"पुलपुल कपाड़िया यह कौन है?"

"अरे वही मां, तू कुछ नहीं समझती।"

तब तक झमझमाती हुई भीतर से मधु निकली— "डिंपल कपाड़िया नहीं। डिंपल खन्ना।"

"ओ हो, क्यों लड़ती हो!"

माजी ने इशारे से कहा— "अंदर कमरे में बैठे हैं दद्दाजी, हां। कोई ताज्जुब नहीं कि वह झांककर सब कुछ देख रहे हों।" मधु ने कमरे में जाकर रेडियो को धीमा कर दिया। कनक निडर होकर उसी तरह ट्रांजिस्टर बजाती रही।

मां ने उस दिन का अखबार लाकर मधु के सामने रख दिया।

"आज पिक्चर जाने को सुमितरानंदन बोल गया है।"

"पर दद्दाजी.....?"

"ओहो, मैं भी आज संग चली चलूंगी।"

फिर मां-बेटी न जाने क्या-क्या इशारों में बातें करने लगीं। कनक ट्रांजिस्टर लिए आंगन से पिछवाड़े चली गयी थी। वहां न जाने किससे किसी सनीमा के बारे में चिल्ला-चिल्लाकर बातें कर रही थी।

दद्दाजी से अब न रहा गया। वह तेजी से बढ़कर आंगन में आये। आंगन से भीतर वाले कमरे में गये। उस कमरे की सजावट, उसका सारा रंगढंग देखकर वह विस्मित रह गये। पिछवाड़े जाकर कनक को डांटा— "यह क्या बदतमीजी है। इस तरह बातें करना कहां की सभ्यता है।"

कनक कुछ बोलने को हुई कि दद्दाजी ने उसके कान उमेठ लिए। कनक चिल्लाई। मां दौड़ीं। और कुछ ही क्षणों में दद्दा की बोलती बंद। आंगन में आकर मां-बेटी दोनों दद्दा से लड़ने लगी हैं।

दद्दा चुपचाप सामने से हट गये।

करीब पांच बज रहे थे। वर्षा के दिन थे। उमस बढ़ी हुई थी। अपने कमरे में आकर दद्दा कोई धर्मग्रंथ खोलकर पढ़ने की कोशिश कर रहे थे। कमरे की खिड़कियां खुली थीं, फिर भी उमस बढ़ती ही जा रही थी। दद्दा से न रहा गया। आंगन के सामने वाले उसी कमरे के दरवाजे पर खड़े होकर बोले :

"यह किसका कमरा है? बोलते क्यों नहीं, इसमें कौन रहता है?"

दद्दा के इस प्रश्न के सामने अब उसकी बोलती बंद थी। दद्दा को आत्मसंतोष हुआ। उससे उन्हें आत्मबल मिला।

"कमाल है, तुम लोग मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं देते?"

"बोलो, क्या उत्तर दें।"

'कौन रहता है यहां?"

मां ने धीरे से कहा— "सुमितरानंदन।"

"क्या? यह कौन है?"

"कनक के दद्दा, तुम तो खामखां बकवास करते हो!"

यह कहती हुई मां रसोई-घर में चली गयीं। तब सारी बात कनक ने बतायी। कोई नया दफ्तर खुला है, परिवार नियोजन का। सुमित्रानंदन बाबू लखनऊ के हैं। अफसर हैं। किराये पर कोई मकान ढूंढ रहे थे। होटल का खाना-पीना उन्हें नहीं पसंद था। बहुत अच्छे हैं सुमित्रा बाबू। इसी कमरे में वह रहते हैं, यह उन्हीं का कमरा है। अपनी किसी चीज में वह कभी ताला-कुंजी नहीं लगाते।

दद्दा ने पूछा— "कित्ता किराया मिलता है?"

कनक बोली— "आह! उनसे कौन किराया लेगा! सारी तनखाह तो उन्हें ऐसे ही कम पड़ती है।"

"चौके में ही खाते हैं?"

"हां, और कहां?"

दद्दाजी चुपचाप उसी कमरे में चले गये। लगता ही नहीं था वह कमरा उसी मकान या उसी घर का एक भाग है। लोहे की आलमारी। इतने करीने से सजा हुआ कमरा। इतना कीमती रेडियो। इतने सामान, पलंग पर इतने सुंदर बिछावन। फर्श पर कालीन। एक किनारे दस जोड़े जूते। तीन जोड़ी चप्पलें। सैंडिलें। खुली आलमारी में इतने सारे कपड़े टंगे हुए हैं। छत से पंखा तेज चल रहा था और उसकी हवा से कमरे की कुछ चीजें रह-रहकर हिलने लगती थीं। कहीं से कुछ आहट-सी होने लगती। कुछ कांप जाता।

दद्दाजी की सांस फूलने लगी। उमस जैसी इतनी बढ़ गयी थी कि दिमाग झनझनाने लगा था। कनक के हाथों में ट्रांजिस्टर पर संगीत सुनायी दे रहा था। मधु नहा रही थी। और उसके गाने की आवाज आ रही थी।

दद्दा से मानो कमरे से बाहर नहीं निकला जा रहा था। उनकी कमर में हल्के-हल्के दर्द उठने लगा था। दीवार को छूते हुए वह कमरे से बाहर निकले, तभी सामने कनक की मां खड़ी दिखीं।

दद्दा ने एक अजीब निगाह से कनक की मां को देखा। उसका सारा अर्थ समझ में आ गया। इच्छा हुई कि कनक के दद्दा से बात की जाय। पर हिम्मत न हुई।

धीरे-धीरे पुरवा हवा बहने लगी। उमस टूटने लगी। दद्दा ने पुकारा— "सरस्वती!"

वर्षों बाद आज यह नाम उस घर में इस तरह पुकारा गया। उस पुकार में कितने-कितने क्या-क्या अर्थ होते हैं इसे कनक की मां ही जानती हैं। सहसा फिर वही पुकार आयी— "सरस्वती!"

इस बार कनक की मां उसी क्षण सरस्वती बनकर उनके कमरे में गयीं।

"क्या है?"

"बैठो।"

"वहां नहीं, यहां।"

चालीस वर्ष लम्बी घर-गृहस्थी और दाम्पत्य जीवन के भीतर से जो परिचय, अपरिचय की अनुभूति मिलती है और उससे जो एक-दूसरे को देखने का रहस्य मिलता है, उसी रहस्यमय निगाहों से उन दोनों ने एक-दूसरे को देखा।

"बात क्या है सरस्वती?"

"मधु की शादी नहीं करनी है?"

"वह तो करनी ही है, पूरे बाईस साल की हो गयी है।"

"तब?"

"तब क्या? तुम मुझे समझती क्या हो! मैं कोई मामूली आदमी नहीं हूं।"

"पता है। बड़ी लड़की मन्नो की शादी के कर्जे अब तक हमारे

सिर पर हैं। और शादी क्या की! मनोरमा के लिए शिवशंभू। कित्ते बड़े-बड़े दातन हैं उसके। घिन छूटती है देख के। मन्नो जैसी लड़की कहां मिलती उससे, अगर तुम न होते।"

दद्दाजी चीखे– "तुम कहना क्या चाहती हो?"

"अपुनो सिर।"

"भाई, यह तो कोई बात नहीं हुई।"

"फिर का बात है?"

"मैं कहता हूं, जो काम करो, जरा सोच-विचार कर करो।"

"हां, हां, मैनो सब सोच-विचार लियो हैं।"

"क्या?"

"तुम्हारी तरह मुज्झे बोलनो की आदत नेही, हां।"

"तो?"

"तो-तो रटा करो तोते की तरह। जमाना नेही देखते कित्ता ख़ा रहा। घर में कानी कौड़ी नहीं है। जवान बेटी घर में बैठाय.....।"

दद्दाजी बिल्कुल नरम हो गये– "ओ हो, यही तो कह रहा हूं कनक की मां। जवान बेटी इस तरह जिस घर में हो, वहां आंगन में किरायेदार.....? यह हमारी संस्कृति के खिलाफ है। हमारे घर ऐसे नहीं बने हैं कि उसमें किरायेदार लाकर बैठाया जाय। यह घर है घर, किराये पर देने का मकान नहीं।"

"चुप रहो। मेरी मर्जी।"

फिर चुप्पी छा गयी। कमरे में हवा का झोंका आकर चला जाता। मधु अब तक नहाने के कमरे में गा रही थी। गिरते हुए पानी की आवाज के साथ उसका गाना पूरे घर में गूंज रहा था।

मधु पहले ऐसे कभी नहीं गाती थी। कभी किसी ने उसे इस तरह पहले गाते हुए सुना ही नहीं।

दद्दा बोले– "तो?"

सरस्वती ने अपने कनपटी को छूते हुए कहा– "ऐसा लड़का हमें कहां मिलेगा! बहुत अच्छा लड़का है। तुम खुद देखोगे।"

"अच्छा!"

"सुमितरानंदन कहता है, मां.....।"

"देखो सरस्वती, उच्चारण शुद्ध करो अपना। सुमितरानंदन नहीं, सुमित्रानंदन। राजा दशरथ के तीन रानियां थीं कि नहीं थीं? एक का नाम सुमित्रा था। सो उसी सुमित्रा का नंदन माने लक्ष्मण।....."

उसी समय सुमित्रानंदन बाहर से घर में दाखिल हुआ। सुंदर, आकर्षक युवक, पूरा पहिनावा सुरुचिपूर्ण। दद्दाजी को देखते ही जैसे वह पहचान गया हो। बढ़कर उसने चरणस्पर्श कर लिये। दद्दाजी एकटक उसे देखते रह गये।

दद्दा के चार-छः प्रश्नों के उत्तर से उसने दद्दा को विस्मय में डाल दिया कि आजकल भी ऐसे युवक हैं, जिनमें इतनी सभ्यता है। चरित्र है।

दद्दा चुपचाप देख रहे थे। उनके घर में कुछ हो रहा था। हर क्षण, हर चीज में उसका होना साफ दिखायी पड़ रहा था। मधु नये कपड़े पहनकर गुनगुनाती हुई सामने से निकल गई है। कनक दौड़कर सारा घर ठीक करने लगी है। कनक की मां नाश्ता बनाकर खाने की मेज पर सजाने लगी है।

दद्दा आंख फाड़े देख रहे थे। इतने अच्छे-अच्छे कप-प्लेट्स, इतने सारे बर्तन। टेबुल-कुर्सियां। इतना कीमती टेबुल क्लाथ। दद्दा की आंखें अपने घर में घूमने लगीं। हर दरवाजे पर पर्दे। हर दीवार पर एक तस्वीर या कैलेण्डर।

सुमित्रानंदन इस बीच इतने शीघ्र नहा-धोकर और कपड़े बदल कर आ गया। दद्दा को साग्रह अपने साथ नाश्ते पर बिठाया।

नाश्ते के बाद सुमित्रानंदन और कनक की मां दोनों बाजार गये। तब दद्दा ने मधु से पूछा– "मधु बेटी, यह कैसा लड़का है?"

मधु लजाकर सामने से हट गयी। पर कमरे के भीतर से उसका गुनगुनाना सुनायी पड़ता रहा।

कनक दद्दा को बताने लगी– "जब आप यहां से मारीशस की

यात्रा पर गये, तभी यह हमारे यहां आये। इस कस्बे में किराये के लिए तो मकान बने नहीं थे, इसलिए इन्हें कहीं कोई जगह नहीं मिली। यह बहुत परेशान थे। डेढ़ सौ रुपये महीने किराया देने को तैयार थे। बहुत बड़े घर के हैं। लखनऊ के। रेडियो और ट्रांजिस्टर दोनों उन्हीं के हैं। ट्रांजिस्टर अब मेरा है। रेडियो मधु दीदी का। पूरी तनख्वाह पहले ही हफ्ते में खर्च कर देते हैं। फिर घर से मंगाते हैं। बड़े शाह खर्च हैं। बहुत अच्छे। हम साथ-साथ पिक्चर देखने जाते हैं। बाजार जाते हैं। एक साथ खाते हैं।....."

दद्दा से वहां बैठा न रहा गया। बाहर निकल आये। पहले बरामदे में घूमते रहे फिर पिछवाड़े की तरफ बाग में चले गये। वहां जी न लगा तो शिवाले की तरफ मुड़ गये। कनक की बातें जैसे दद्दा को चोंच मार रही थीं। जैसे वह पूरा घर दद्दा को अजीब तरह से घूर रहा था।

दद्दा शिवाले तक भी न पहुंच सके थे कि उनके पैर पीछे मुड़ गये। उनके घर में जो कुछ हो रहा था, उसे देखने में एक अजीब तरह का आतंक भरा आकर्षण था।

बाजार से सब्जी, फल आदि खरीदकर ले आया गया था।

छः दिन बीते थे। इस बीच दद्दा किसी और बहाने से कनक की मां से दो बार लड़े थे। कनक को अनायास कई बार डांटा था। मधु को कई बार टोका था कि क्या घर में इत्ती बार कपड़े बदलती हो? क्या हर वक्त गुनगुनाती रहती हो? यह भी कोई आदत है।

एक दिन दद्दा ने देखा, सुमित्रानंदन और मधु दोनों बाजार जा रहे हैं। दूसरे दिन देखा, सुमित्रानंदन सबको टहलाने ले जा रहा है। और एक दिन देखा, सारा घर रात को सनीमा देख कर लौट रहा है। फिर दूसरे दिन जब सुमित्रानंदन दफ्तर चला गया, दोनों बेटियां स्कूल-कालेज चली गयीं, तब दद्दा की जुबान खुली:

"लगता है, मैं इस घर में कहीं बाहर का हूं। जैसे मैंने तुम्हारे लिए कभी कुछ ही नहीं किया। मैं बिल्कुल बेकार, नालायक हूं। मैंने किसी को कभी कुछ नहीं दिया। किसी के लिए कुछ नहीं किया।"

कनक की मां आज बोल पड़ी– "तुमने मुझे हमेशा सिर्फ उपदेश दिया है। चरित्र का उपदेश। सजम की शिक्षा। और क्या दिया है? अच्छे कपड़ों के लिए मैं तरस गयी थी।"

"अच्छा, अब तो तुम्हारी सारी इच्छाएं पूरी हो रही हैं। कर लो पूरी।"

कनक की मां रो पड़ी। आंसू के अलावा और कोई शब्द नहीं। दद्दा यही चाहते थे। अब उन्हें शांति मिल गयी।

अगले रविवार को आर्यसमाज मंदिर में दद्दा का स्वागत समारोह था। अखिल भारतीय आर्यसमाज की ओर से। मारीशस की विदेश यात्रा से लौटे हुए दद्दा ने अपने सारगर्भित संस्मरण सुनाये। ओजपूर्ण भाषा में, विश्व में फैली हुई भारतीय संस्कृति की महिमा पर व्याख्यान दिये। और अंत में आज के नवयुवकों के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए कहा– "हमें इस बात की परम प्रसन्नता है कि आज हमारे समाज में कुछ ऐसे नवयुवक उभर कर आ रहे हैं जिनके चरित्र परम उज्ज्वल हैं। उनमें भारतीय संस्कृति के तत्त्व विद्यमान हैं।....."

पूरे प्रवाह में दद्दा ने व्याख्यान देते-देते सामने उपस्थित सुमित्रानंदन का नाम उदाहरण में ले लिया।

पर दूसरे दिन मुहल्ले के कुछ लोगों ने दबी जबान से सुमित्रानंदन के प्रसंग में कहा– "सो तो ठीक है दद्दाजी, पर मुहल्ले पर इसका उचित असर नहीं पड़ता। जवान बेटी के साथ कोई इस तरह घूमे-फिरे, इतनी भी छूट नहीं होनी चाहिए। बहू-बेटियों पर इन बातों का प्रभाव पड़ता है।"

इस पर दद्दा ने मुहल्लेवालों से कहा– "भारतीय संस्कृति की आत्मा है, स्वतंत्रता। आज समय बहुत बदल गया है। सृष्टि का नियम है परिवर्तन। अगर आप लोग दिल्ली, बंबई होते हुए मारीशस गये होते तो पता चलता कि आधुनिक समाज में कितना परिवर्तन हुआ है और हमारी संस्कृति ने कितनी उज्ज्वल यात्रा की है।"

घर में एक दिन दद्दा कहते– "कनक की मां, मधु को हमें इतनी छूट नहीं देनी चाहिए। कुछ मर्यादा का ध्यान तो रखना ही

होगा।" और वही दूसरे दिन कहते– "कनक की मां, तुम बिल्कुल ठीक कहती हो, समय बिल्कुल बदल गया है। हमें समय के साथ चलना होगा। सुमित्रा जैसा लड़का हमें मधु के लिए कहां मिलेगा। निश्चय ही सुमित्रानंदन चरित्रवान युवक है।"

□□

नवम्बर बीत रहा था। सुमित्रानंदन ने उस दिन नाश्ते की टेबुल पर बैठकर बताया, उसका यहां से हेडआफिस कानपुर ट्रांसफर हो गया। उसे तीन दिनों के भीतर कानपुर ज्वाइन करना है। सारे घर में सन्नाटा छा गया। अजीब उदासी फैल पड़ी।

रात को दद्दा ने सुमित्रानंदन से मधु के ब्याह की चर्चा की। वह आश्चर्य में पड़ गया।

"दद्दाजी, आप यह क्या कह रहे हैं! मैंने ऐसा कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा।"

कनक की मां ने कहा– "पर हमने तो बेटा, यही सोचकर.....।"

सुमित्रानंदन मांजी का मुंह देखता रह गया।

दद्दा बोले– "मधु क्या तुम्हें अच्छी नहीं लगी?"

"बहुत अच्छी है मधु। उसमें इतने गुण हैं कि मैं बयान नहीं कर सकता।"

"तो फिर शादी में क्या अड़चन है?"

बेहद उदास आंखों से सुमित्रानंदन, दद्दाजी और मांजी के मुख निहारता रहा फिर उस कमरे से शून्य में आंखें गड़ाकर बोला– "कुल तीन सौ रुपये तनख्वाह मिलती है मुझे। क्या होते हैं इस जमाने में तीन सौ रुपये। मैं हर महीने दो सौ रुपये घर से मंगाता हूं, तब कहीं चल पाता है.....।"

दद्दा ने कहा– "तुम फजूल खर्चे भी तो करते हो। क्या जरूरत है यहां इतने खर्चे की?"

सुमित्रानंदन चुप था।

मांजी और दद्दा उससे प्रश्न करते जा रहे थे। वह बोला– "आखिर मैं कहीं और रहता तो किराया देता। खाने-पीने में ही दो सौ रुपये से कम नहीं लगते। और मुझे जो इस घर में मिला, मैं कभी उसे पैसों से तौल सकता हूं?"

दद्दा के मुंह से निकला– "पर यह कैसा चरित्र है तुम्हारा? विश्वास देकर कोई ऐसा करता है?"

"मैंने ऐसा क्या किया दद्दा?"

कमरे में सन्नाटा छा गया। बगल के कमरे से मधु की सिसकियां सुनायी दे रही थीं। कनक सामने के कमरे में रेडियो पर हवामहल कार्यक्रम सुन रही थी।

(१९७४)

सूने अंगन रस बरसै

चैत की पुरवइया पिछवारे इमली के पेड़ से झूम-झूम कर बह रही थी, और इमली की हरी-हरी पत्तियां फेरई चौधरी के आंगन में इस तरह बरस रही थीं, जैसे सुहाग की असंख्य धानी-धानी टिकुलियों से आंगन में किसी की सेज बिछ रही हो।

भोर होने में बहुत देर न थी, पूरब में पहला लोहा लगने ही वाला था। शुक्र महाराज धीमे पड़ने लगे थे, लेकिन आंगन के ओसार में अब तक पारवाली भौजी और फूलमती एक ही खाट पर बेखबर सो रही थीं।

आधी रात के बाद तक ये दोनों जगी बैठी फेरई भइया के घर आने की राह तक रही थीं। फेरई फौजदारी के मुकदमे की तारीख पर गया था, और रात नहीं लौट सका था। फूलमती और उसकी चम्पा सखी छिपकर रात के पहले पहर में फेरई भइया का रास्ता देखने डिवहार के बाग तक गयी थीं। पर वह नहीं आया, और दिया सारी रात जलता रहा।

और निराश भौजी और फूला की आंखें रात के पिछले पहर लगीं, तभी दोनों में से अब तक किसी की भी नींद न टूटी। नहीं तो अब तक क्या, इससे भी पहले शुक्र उदित होते-होते दोनों एक ही संग जग जाती थीं। भौजी दोनों बैलों को सानी देती, चरनी से लेकर दुआर तक

कुचरे से बुहारी दे देती और दोनों बैल, एक पंड़रू, एक लेरुआ के चारों खूंटों से गोबर उठा कर घूर में जमा कर आती। लेरुआ और पंड़रू के खूंटों के बीच खड़ी हो वह दो आंसू सदा रो पड़ती। साहेब काका के घर से फौजदारी के इस मुकदमे में, जो पिछले डेढ़ साल से मुए डिप्टी के इजलास में चल रहा है, उसकी पैरवी में पहले पारवाली भैंस बिकी, फिर मामा की दी हुई जमुनापारी गाय भी बिक गयी, और उनकी करुण सुधि में, जैसे उन्हींका प्रतिनिधित्व करने के लिए भैंस का वह पंड़रू, गाय का वह लेरुआ फेरई के खूंटे पर अब भी बंधे हैं।

गोबर उठाने के बाद, पारवाली भौजी ही उस टोले में पहली औरत होती जो सामने के कुएं से पहला घड़ा भर लेती और आंगन के थाले पर रख लेती। उसकी मां कहती थीं, भोर में कुएं के पहले घड़े में अमृत होता है; उसके पीने और माथा धोने से आंचल और सुहाग दोनों अमर होते हैं।

और फूलमती तब तक इधर आंगन से लेकर सारे घर में कुचरी डाल देती, और जांत पर बैठकर कम-से-कम एक सेर गेहूं ज़रूर ही पीस चुकती!

एकाएक भौजी की नींद उचटी। फूलमती को जगाया और ननद-भौजी दोनों आंगन में आ खड़ी हुईं— भोर का दूसरा लोहा लगने जा रहा था। सारा आंगन इमली की पत्तियों से पट रहा था। दोनों ने आंखों-आंखों में एक-दूसरे से कहा, "महुआरी में आज कम महुए चुए होंगे।"

भौजी घड़ा लेकर आंगन से बाहर दौड़ी और फूलमती अकेली, थकी-सी निरुद्देश्य आंगन में खड़ी रही। संभवतः वह देख रही थी, महुआरी में महुए टपक रहे हैं और कोई उन्हें बीनता जा रहा है!

फूला यंत्रवत् मुड़ी, और आंगन में झाड़ू देने लगी। ढेर-सी इमली की पत्तियों को डलवे में उठाकर जब वह बाहर निकली, उसी समय कमर पर घड़ा रखे हुए भौजी मिली, "सुनो बहिनी, आज मैं महुआ बीनने न जा सकूंगी, तुम अकेली दौड़ जाओ मेरी रानी बहिनी, मैं तब तक घर का सब काम देख लूंगी!'

फूलमती अकेली द्वार पर खड़ी दो क्षण जैसे कुछ सोचती रही,

एकाएक उसी बीच आंगन से फिर भौजी की आवाज़ आयी, "आज अकेली मेरी फूला को महुआरी में जाना पड़ा, यह पुरवइया है—कि बैरिन, दहिजरा आंख ही न खुली!"

फूला बड़ी तेज़ी से दरवाजे के बाहर मुड़ी और इतने वेग से महुआरी में झट पहुंचने को हुई— कि डलवे में इमली की पत्तियों को घूर में फेंकना ही भूल गयी। उसी तरह डलवे को दायीं कांख में दबाये वह सुमिरन काका की कोलिया-कोलिया पदारथ बाबा के गुलौरा तक पहुंच गयी, और उस वेग में जैसे ही वह साहेब काका के घरवाले मोड़ से आगे बढ़ने को हुई, समूची फूला एकाएक इलैची अइया से टकरा गयी। बांस की ठेंगिनी सहित इलैची अइया धड़ाम से गिर पड़ीं—चारों खाने चित्त, और उनके ऊपर डलवे की सारी पत्तियां छा गयीं। फूला चाहकर भी इलैची अइया के सामने एक क्षण भी न रुक सकी, बेचारी अपनी जान लेकर भागी वहां से।

भागी तो लेकिन इलैची अइया अपने पूरे स्वर में, रुदन को थोड़ा-थोड़ा मीड़ दे-देकर जो-जो गालियां और टूट-सरीप फूला को देने लगीं उसका सारा घिनाफोर स्वर भोर के शान्त वातावरण में इस तरह छाने लगा जैसे पूस-माघ के भोर में कुहासे के बादल।

अभी कोई उस रास्ते से आ-जा नहीं रहा था, इसलिए इलैची अइया बाकायदे वहीं रास्ते पर पैर फैलाकर बैठी रहीं और सस्वर कराहती रहीं, "हाय राम, मार डाला जवनकी ने! आग लगे उसकी भरी जवानी में! उन्माद चढ़ा है तो गौने क्यों नहीं जाती? भतार की छाती पर जाकर मूंग दरे। सांड़िन बनी घूमती है, किसी को राह-पैड़ा नहीं चलने देगी, जाय भतार घर तब पता चलेगा। इलैची को घूर समझा है, राम रे राम, दीदा देखो इसका, घर का सारा बुहारन, सगरी इमली की पत्तियां झोंक गयी कलमुंहीं! दीदामरी!!"

सहसा साहेब काका की खिड़की खुली। उनकी चम्पा बेटी निकलकर आयी और बिना कुछ बोले-चाले वह बेचारी इलैची अइया के हाथ-पैर सहलाने लगी, शरीर का सारा गर्द और इमली की पत्तियों को झाड़ने लगी।

इलैची ठण्डी पड़ती जा रही थी, और रुदन के स्वर में अब एक

मीठी लय उभर रही थी, और बीच-बीच में वह कह बैठती थी, "तू क्या दूध की धुली है! तेरी ही तो सखी है वह फुलवा, जिसे इतना उन्माद चढ़ा है। तू भी कम नहीं है चम्पा! तेरा भी दीदा बिगड़ा है उसी के संग।"

चम्पा ने अनेक तरह से इलैची को मनाया, हाथ-पैर, पीठ-पेट, सीना-कमर, सबकी मालिश की, बहुत झाड़ा-पोंछा, लेकिन अइया इस तरह बिगड़ खड़ी हुई थीं कि फूला सखी तो क्या, लगता था, चम्पा की भी खैरियत नहीं।

वह भागकर घर गयी, एक हाथ में दो चिलम तम्बाकू और दसरे में एक पूरी भेली लिये हुए वह लौटी, इलैची अइया के कोंछे में चुपचाप बांधने लगी, तब अइया का चढ़ा हुआ स्वर एकाएक गिरकर इतना मीठा हो गया कि उसमें से रस बरस पड़ा, "जुग-जुग जियो बेटी! जहां जाव दूध, पूत, लच्छमी से बनी रहो, सबका मंगल करैं त्रिलोकीनाथ बाबा!"

इस तरह दुगुने उत्साह से उठकर इलैची अइया आशीष देती हुई गली में मुड़ गईं। चम्पा सखी का जी हुआ कि वह दौड़ी हुई महुआरी में जाय और हंसती-हंसती फूला सखी से लिपट जाय!

□□

फूलमती जब महुआरी में पहुंची, उसने देखा पुरवइया के बावजूद भी उसके दोनों महुओं के तले महुए चुए थे, और अब तक बराबर चूते जा रहे थे।

महुए के बड़े पेड़ का नाम अच्छन था, और छोटे का नाम बन्दरा-मुच्छन। फूला को जब से होश आया है, वह इन्हीं नामों से इन पेड़ों को जानती थी। बन्दरा-मुच्छन का महुआ इतना मीठा, इतना खुशबूदार और बड़ा-बड़ा होता था कि आदमी की कौन कहे बन्दर और पक्षियों से यह नहीं बच पाता था।

फूला जल्दी-जल्दी से बन्दरा-मुच्छन के तले महुआ बीनती जा रही थी, और अपने भोले मन में अकेली सोचती जा रही थी—आज देर

भी हो गयी, ऊपर से इलैची अइया का कोप—महुआरी में संग भौजी भी नहीं। भोर हो गया इधर, दिन निकलते-निकलते तक भी मैं अकेली बन्दरा-मुच्छन के महुए नहीं बीन पाऊंगी। दिन निकलते ही कौए और किलहटियों से मुच्छन की डालियां पट जायेंगी, फिर क्या होगा! कौन इन्हें पेड़ से हड़ायेगा और कौन महुआ बीनेगा! आज सब हाथों-हाथ उठ जायेगा! पुरवइया भी धीरे-धीरे गिरती जा रही है, रात-भर बहकर अब थक गयी, अब महुआ भी खूब चुएगा!

फूलमती की सांस फूलने लगी; वह निःश्वास भर कर उठी और कमर पर हाथ रखे इधर-उधर देखने लगी। साहेब काका के नौरंगा के पीछे से बेहद तेजी से उसकी सरजू पारवाली भौजी चली आ रही थी। आस-भरी फूलमती भोर के धुंधलके में निहारती खड़ी रही और उसके माथ, सिर, कन्धे, पीठ और वक्ष पर महुए टपकते रहे।

फूलमती झुकी-झुकी महुआ बीनने लगी, बीच-बीच में वह निहारती रहती कि भौजी आ रही थी, कहां रह गई, फिर उसने समझ लिया कि वह भौजी नहीं कोई और रही होगी। तब फूला सिर गड़ाकर केवल बीनने में खो गई। कुछ ही क्षणों बाद वह यह सुनते ही चौंक पड़ी— **'महुआ के नावां सुगौवा हो, रसा चुइ-चुइ जाय। अंचरा में बांधिके नयनवां हो महुआ बीने जाब.....।'** सुनते ही फूलमती में हंसी का स्वर आ गया। और वह आंचल ही में सारी हंसी गाड़ने लगी। क्योंकि सामने पारवाली भौजी के रूप में सबसे छिपकर चम्पा सखी आयी थी—भौजी जैसी ही धोती, वही अंचरा मारने का ढंग, माथे पर उतना ही घूंघट, वही सारी चाल-ढाल, वही सारा अन्दाज।

महुए टपकते जा रहे थे! डलरी में बीन-बीनकर दोनों सखियां महुओं की दो ढेरियां बनाती जा रही थीं—एक ढेरी अच्छन की, दूसरी बन्दरा-मुच्छन की। खेत-खलिहान, गोरू-बछरू को देखने-भालने के क्रम में कोई-कोई अब महुआरी के आस-पास से गुजरने लगे, तब चम्पा ने अपने को पूर्णतः अस्पष्ट रखने के लिए माथे के घूंघट में और बल डाल दिया। और दोनों सखियां टपकतें महुओं के रसमय तारों के बीच बहुत धीरे-धीरे बातें करने लगीं— जैसे उन्हें कभी खुलकर बातें करने का अवसर ही नहीं मिलता, जैसे वे अट्टहास के बीच से बातें

करना चाहती हों, पर उन पर इतना डर हो कि वे मुसकराने में भी भय खाती हों।

बदरी महतो अपने बछरू की टांग बैठवाने के लिए बूढ़ापारन जा रहे थे—महुआरी को पार करते-करते वे फूलमती के पास आकर खड़े हो गये, बेहद दुलार से बोले, "बिट्टन, यह कौन है?"

"मेरी भौजी तो है!"

"ओ हो! लेकिन बिट्टन, यह मुझसे क्यों इतना घूंघट करती है, मैंने तो पारभू में इसे, जब यह इत्ती बड़ी थी, गोद खिलाया था— इसके काका सुखराम बड़े राजा जीव थे, खूब बनती थी मुझसे! बड़े पानी के आदमी थे!"

महतो आशीष देते-देते अपने रास्ते बढ़ गये, और जब वह महुआरी से ओझल हो गये, तब फूला का जी न माना, वह पंजे पर चलती हुई चम्पा सखी के पास गयी, और उसके मर्म में कहीं पूरी शक्ति से निडर हो गुदगुदा दिया, "कहो मेरी भौजी! हाय रे! अब बोलो! **देहु न भौजी डलरिया हो, महुआ बीने जाब, महुआ के नावां सुगौवा हो.....।**" घूंघट की तरफ छाया में चम्पा हंसकर रह गयी, मुसकराती हुई आंखों से रूठकर बोली, "कोई देख लेगा तो बस, यह भी लुट जायेगा!"

"लुट जाय।" फूलमती ने प्रीति-स्वर से कहा, "मन का भाव कोई लूट ले तो जानूं, प्राण दे दूंगी हां!"

और यह कहते-कहते फूला की आंखें भर आयीं, वह रो उठी। तब उन आंसुओं को पीने के लिए चम्पा ने झट उसे गुदगुदाया, "मेरे जीतेजी रोती हो, मेरी फूलरानी, अरे मैं तो लाल घोड़े पर चढ़कर तुमसे ब्याह करने आऊंगी। उड़न-पालकी में बिठाकर तुझे अपने देश ले जाऊंगी—दूर, बहुत दूर, सात समुन्दर पार..... तू रानी सारंगा है, मैं सदावृज हूं; तू अनबोली रानी है, मैं बाला लखन्दर हूं; तू सागरमती है, मैं हंसों का राजकुमार हूं।"

आगे चम्पा के भी स्वर पिघल गये। उसका भी कण्ठ रुंध गया, और दोनों सखियां एक-दूसरे को चुप कराने के प्रयत्न में रोती रहीं, रोती रहीं!

□□

शिवपुरा आज का!

और तब का?

अन्तराल बहुत वर्षों का नहीं, थोड़े ही वर्षों का है। तब ज़मींदारी थी और चम्पा के पिता साहेबसिंह शिवपुर के एकछत्र मालिक थे, और फूलमती का काका मंगल साहेबसिंह का सबसे प्रिय काश्तकार था। दिन-रात की बैठक, मालिक के सारे दुख-सुख में भाई की तरह सम्पृक्त, मंगल काका साहेबसिंह का सबसे अधिक विश्वासपात्र था। प्रीति-विश्वास और निष्कपट स्नेह का वह सम्बन्ध केवल उसी पीढ़ी तक नहीं सीमित था, वरन् उसका एक उज्ज्वल अतीत भी था, जो पीढ़ी दर पीढ़ी को अपने मंगल-सूत्र में बांध कर चला आ रहा था। दोनों घरों की स्त्रियों में तो इतनी प्रीति थी कि जिसे दांतकाटी रोटी का सम्बन्ध कहतें हैं, और उस सनातन सम्बन्ध में कहीं भी, किसी तरह से कोई चूक नहीं थी। सच, शिवपुर गांव की तो बात ही क्या, आस-पास के गांव वाले, बल्कि साहेबसिंह के शेष सारे आसामी मंगल चौधरी से इस सम्बन्ध के धरातल पर ईर्ष्या करते थे।

तभी साहेबसिंह अपने लिए कुछ भी हों, कैसे भी हों, फूलमती के वह साहेब काका थे, उनकी पत्नी इसकी काकी थीं, उनके बड़े पूत इसके ददुआजी थे और छोटे इसके राजा भाई। ठीक यही धरातल उधर से भी था—उस घर में कोई मंगल काका का नाम नहीं लेता था, साहेबसिंह उसे चौधरी कहते थे और अन्य सब लोग उसे चौधरी काका पुकारते, और उस सम्बन्ध का यही पारिवारिक आदर्श दोनों के लिए एक समान था।

शिवपुर में कुल पक्के आठ सौ बीघे खेत थे। उनमें से चार सौ बीघे की सीर साहेबसिंह की थी—शेष चार सौ में पूरा गांव खेती कर रहा था।

मंगल चौधरी के कुल पैंतीस बीघे की काश्त थी, और दादा, परदादा से उतनी ही ज़मीन चली आ रही थी और उतने में ही उन्हें मां जैसा सन्तोष भी मिल रहा था। और वे पैंतीस बीघे खेत सोने के कटोरे

जैसे थे भी। खांड़ जैसी उनकी मिट्टी थी और नयन जैसे वे जवान भी थे।

ज़मींदारी टूटने की खबरें अख़बारों में छपने लगीं, उस विषय की नित्य नयी-नयी सूचनाएं मिलने लगीं और अन्त में यह निश्चित-सा होने लगा कि ज़मींदार के पास केवल सीर के खेत रहेंगे, शेष सब निकल जायेंगे। उस समय अपनी सीर को अत्यधिक मान्यता और सुरक्षा देने के लिए साहेबसिंह ने समूची सीर की चकबन्दी करनी चाही। कछार से लेकर पूरबवाली सोयी के बीच सब सीर के खेत थे; बीच में केवल दो जगह दस-दस बीघे की दो पट्टियां मंगल चौधरी की पड़ती थीं।

एक दिन साहेबसिंह ने अलाव के पास बैठकर फ़र्शी पर चिलम पीते-पीते कहा, "चौधरी, मेरी इच्छा है कि मैं कछार से लेकर पूरबवाली सोयी तक एक पूरा चक बनाऊं। क्या राय है तुम्हारी मंगल चौधरी?"

"जो आपकी है राजा!" मंगल चौधरी ने अत्यन्त स्नेह से कहा, "आपकी राय मेरी राय है। रही वह बीस बीघे खेत की बात, वे आप ही के खेत हैं सरकार! वहां न सही दूसरे ही सिवान में पा लूंगा!"

"वाह! वाह!! क्यों नहीं, क्यों नहीं!" साहेबसिंह प्रीति-स्वर में बोले, "तुम्हें चौधरी, उस बीस बीघे ज़मीन के बदले पूरे पक्के पचीस बीघे खेत मैं उत्तर-पश्चिम के किसी भी सिवान से दे दूंगा, जहां भी तुम चाहोगे, और जैसे भी चाहोगे!"

"बिल्कुल सही राजा! बिल्कुल ठीक! इसमें भी कुछ कहने-सुनने की बात! दोनों ही घर मेरे हैं!"

फिर साहेबसिंह के संग तहसील में जाकर मंगल चौधरी ने अपने उन बीस बीघे खेतों का इस्तीफा दे दिया!

आगे की कहानी बहुत छोटी है!

उसके दो ही महीने बाद साहेबसिंह की मृत्यु हो गयी, और अगले ही वर्ष ज़मींदारी टूट गयी—जैसे गांव की समूची बांह टूट गयी, मूल टूट गया। साहेबसिंह के दोनों लड़के—ददुआजी और राजा भाई एक दिन

सोच बैठे, "जब सरकार ने हमारा सारा राज्य ले लिया—और उसके बदले में हमें कुछ नहीं दिया, फिर हम ही किसी को क्यों दें! हम ही मंगल चौधरी के बीस बीघे खेत का मुआविजा क्यों दें! नहीं देंगे, जाकर वह अपनी सरकार से ले। सरकार ने हमें ही कहां मुआविजा दिया!"

उस द्वार से यह निर्णय सुनते ही मंगल चौधरी वहीं कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा। खाट पर उठाकर अपने घर लाया गया और बेहोशी के आलम में दो दिनों तक न जाने क्या-क्या बे-सिर-पैर का बड़बड़ाता हुआ तीसरे दिन की सुबह वह सदा के लिए चुप हो गया! और थोड़े ही दिनों बाद चौधराइन का भी देहान्त हो गया।

□□

और **शिवपुरा** आज का!

आज के वे दोनों परिवार!!

साहेब काका का द्वार बिल्कुल सूना है— न एक हाथी, न एक घोड़ा; तीस गोई बैलों की जगह अब मुश्किल से पांच गोई बैल हैं— वे भी अधबूढ़े, अधजवान। दरवाजे के सात नौकरों और नौ सिरवारों में से अब कोई नहीं है, सबकी छुट्टी हो गयी। ददुआजी जैसे समाजवादी हो गये, सारा काम अपने हाथ कर लेते हैं, और राजा भाई सीर-पात की देख-भाल और दौड़ने-धूपने का काम कर लेते हैं। दरवाजे पर बस, अब केवल एक बुढ़िया साइकिल खड़ी मिलती है।

अब कोई उत्सव नहीं होता, कोई आयोजन नहीं मनाया जाता, कोई दान-पुण्य नहीं, यहां तक कि अब द्वार पर भिखमंगे, साईं, फ़कीर और गोसाईं, ब्राह्मण तक भी नहीं आते-जाते! जैसे कभी कोई राजपथ था, अब वहां सूखी झाड़ी फैल गई हो।

मंगल चौधरी के घर में अब उसका अकेला बड़ा लड़का फेरई है, उसकी पत्नी है, पारवाली, और वही फूलमती बहन। खूंटे और चरनी पर चार बैलों की जगह अब केवल दो बैल हैं। पूरा गांव, स्त्री-पुरुष, बूढ़े-जवान, बच्चे सब फेरई के परिवार पर व्यंग्य करते हैं, बात की बात में कहनी बझाते हैं— बड़ी मिठाई में कीयां पड़ता है, बड़े साहेब काका, साहेब काका बने थे, अच्छा किया; ठठेर का मूल था, सूद दर सूद उसने वसूला।

साहेबसिंह और मंगल चौधरी की मृत्यु के बाद फेरई ने गांव में एक बहुत बड़ी पंचायत बैठाई, आस-पड़ोस के बुजुर्ग और न्यायी लोग इकट्ठे हुए, लेकिन परिणाम कुछ न निकला। पटवारी से पिछले कागजात खसरा-खतौनी और बन्दोबस्त के कागजों से फेरई ने अपने खेतों की नकल ली, कचहरी में दावा किया, लेकिन दो-एक पेशी के बाद मुकदमा अपने आप बैठ गया। मंगल चौधरी के इस्तीफे का सरकारी कागज़ फेरई के लिए वास्तव में कोई राहु बन बैठा था। उसका सारा पथ, सारे विकल्प निर्जीव थे।

और मंगल चौधरी के वे बीस बीघे खेत तब से आज तक बंजर पड़े हैं— और केवल उतने ही नहीं, उत्तर-पूरब के सिवान का वह सवा सौ बीघे का चक परती पड़ा है। क्योंकि ददुआ जी के पास उसकी खेती के लिए कोई साधन ही नहीं है। जितने, जो बैल हैं वे उसके लिए कभी पूरे ही नहीं पड़ते। ददुआजी तब से हर वर्ष स्वप्न देखते हैं कि कहीं से एक ट्रैक्टर खरीदा जाय या कहीं से किराये ही पर कोई ट्रैक्टर मिल जाय, पर आज तक वह स्वप्न, स्वप्न ही रहा।

फेरई के पास खेती के साधन हैं, उल्लास और शक्ति है उसमें, उसकी बाहुओं में ट्रैक्टर की गति है, लेकिन उसके पास खेत नहीं हैं, ददुआजी के पास खेत-ही-खेत हैं, लेकिन खेती करने के साधन नहीं हैं।

फेरई जब गांव के बाहर निकलता है तो वे बीस बीघे खेत उसे **डसने लगते हैं। वह भूलकर कभी उधर देखता तक नहीं, फिर भी वह** हर क्षण देखता है— कोई काला नाग है जो अपने गुंजलक में बीस बीघों की धरती छिपाये बैठा है, कोई कांटेदार पेड़ है जो अपनी विषाक्त छाया से उन खेतों पर ओंछाह डाल रहा है, कोई भूत-प्रेत हैं, जो उन खेतों में डेरा डाले हैं, कोई दुश्मन है जो उस धरती पर चक्रव्यूह रचे बैठा है, किसी शाप की छाया है, जो हरदम उस सिवान पर मंड़राती रहती है— सूना, सन्नाटा वह जीवन्त कछार—उसका बंजरपन, उसका परतीपन, कितना भयानक, कितना अशुभ!!

जब-जब अषाढ़ का पहला पानी बरसता है, जब-जब क्वार, कातिक के दिन आते हैं, और सारा गांव माधो-माधो कर खेत बोता है, फेरई भूखे सिंह की तरह अपनी विवशता की मांद में रो-रोकर चीखता है, मंगल चौधरी और साहेबसिंह की नंगी प्रीति के शव को नोच-नोचकर तार-तार कर देता है, लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकलता, कुछ भी नहीं निकलता।

□□

उस वर्ष की बात है, दीपावली की रात थी। सबके खेतों में चिराग जल रहे थे। सबके मेड़ों पर प्रकाश था। पारवाली भाभी और फूलमती अपने आंगन में उदास बैठी थीं। उनके सामने उन बीस बीघों का सन्नाटा, और उनके मेड़ों का अन्धकार फैला था। वे हर वर्ष चाहती थीं कि उन खेतों में वे चिराग रख आयें, दूब-अक्षत से पूज आयें उन्हें, लेकिन फेरई ने बुरी तरह से मना कर रखा था और विवश वे रोकर रह जाती थीं। लेकिन उस वर्ष, सन्ध्या के धुंधलके में चम्पा सखी सबसे छिपी हुई फूला सखी के घर आयी, थालियों में, आंचल के नीचे छिपा-छिपा कर बिना जले हुए दीपों को लेकर, वह पारवाली भाभी और सखी के संग उन सूने खेतों में गयी, और खेतों के अन्धकार और सन्नाटे में वे छिपकर दीप जलाने लगीं। चम्पा दीप जलाती, फूला सखी उन्हें दूब-अक्षत से पूजती और पारवाली भाभी उस पर्व को अपने भरे नयनों से स्निग्ध करती चलती। हर खेत का परतीपन, हर खेत की सूनी मेड़, कोन-किनारे के अंकवाई-थाले जिनपर जैसे कोई रोता रहता था, आज उन पर दीप जले थे, मंगल गीत उगे थे! तीनों दौड़-दौड़कर खेतों के सब कोनों को जैसे आंखों से चूमती थीं, आंचल से बलैया लेती थीं और ओंठों से मनुहार करती थीं, क्योंकि वे खेत, वह पूरी पट्टी, वह समूचा चक— कछार से पूरब सोयी तक किसी से रूठा था, किसी से उपेक्षित था, फिर भी मान था उसका।

लेकिन यह अद्‌भुत प्रकाश उनके आंचल के वश से बाहर था— वह कैसे छिपता? उस प्रकाश को उधर फेरई ने देखा, उधर ददुआजी ने। दोनों दो रास्तों से वहां दौड़कर पहुंचे, देखा दंग रह गये— एक ओर फूलमती, दूसरी ओर चम्पा और बीच में पारवाली— तीनों डर से एक ही रेखा में सम्पृक्त, जैसे पारवाली कोई मां हो और वे दोनों जवान बेटियां उसकी मर्यादा हों।

बहुत दिनों के बाद फेरई और ददुआजी आमने-सामने पड़े थे, तब से आज तक वे दोनों, वे दोनों घर, इतने दूर हट गये थे, कि दोनों जैसे एक-दूसरे का साया नहीं बर्दाश्त कर पाते थे।

फेरई क्रोध में जलकर फूला और पारवाली पर बरस पड़ा, उन्हें धक्के देता हुआ घर ले आया और क्रोध की यही दशा ददुआजी की ओर से चम्पा पर भी चरितार्थ हुई। दोनों ने अपने-अपने घरों में निर्णय दे दिया, "फिर अगर कभी तुम लोगों को मिलते-जुलते, बातचीत तक करते देखा, तो ज़िन्दा गाड़ दूंगा।"

और उस रात, जब सारा गांव सो गया, फेरई उठा। कन्धे पर कुदार रखी और अपने उन खेतों में चला गया और परती परे हुए खेत को जैसे गोड़ने लगा, और सुबह तक गोड़ता रहा। एक घण्टा दिन चढ़ते-चढ़ते वहां राजा भाई को संग लिए हुए ददुआजी आये। फेरई को खेत से भगाना चाहा, इस पर संघर्ष बढ़ा और आपस में बुरी तरह मारपीट हो गयी। तीनों घायल हुए। फिर मुक़दमा चला, और आज तक वही फ़ौजदारी का मुक़दमा चल रहा है।

पिछले महीने से, हाकिम के इजलास में उस मुक़दमे की आखिरी तारीखें चल रही थीं। इस ओर से अकेला फेरई था, और उस ओर से ददुआजी और राजा भाई।

ये तीनों कल रात ज़िले से गांव नहीं लौट सके थे। दोनों घरों के दरवाजों पर रात-भर दीपक जलते रहे उनकी राह तकने के बहाने रात को साहेबदादी इस घर आई थीं। पारवाली जब उनके चरण छूकर अपने माथे लगा रही थी, उस समय दादी फूट-फूट कर रोयी थीं। दादी के जाने के बाद ददुआ बहू भी छिपकर आयी थीं, उनके संग चम्पा भी थी। चारों एक दूसरे को देखकर पहले जी भर रोती रहीं, फिर अपने-आप पर हंसती भी रहीं—"हम जैसा कौन अभागा होगा, हमी शत्रु सिद्ध हुए, और उनके, जो हमारे हैं, अपनी ही आत्मा के टुकड़े जो हैं। कितनी हंस रही होगी दुनिया।" ददुआ बहू कहती जा रही थीं और बीच-बीच में उनसे कभी हंसी का रस बरस पड़ता था, कभी आंसू

का। "फूला और चम्पा दोनों सखियों को देखो, एक-दूसरे से मिलने के लिए इन्हें स्वांग भरना पड़ता है, फूला मेरी साड़ी पहनकर, मुझ जैसा घूंघट बनाती है, तब मेरे घर आ पाती हैं, चम्पा पारवाली बनती है, पारवाली बड़ी बहू और मैं पारवाली।..... क्या विश्वास करेगी दुनिया, आगे के लोग क्या कहेंगे? एक थे साहेबसिंह और मंगल चौधरी और थे साहेबसिंह के दो पूत, कपूत.....!"

ददुआ बहू चुप ही न होती थीं, बस रोती जा रही थीं। और आधी रात बीतते-बीतते जब बहू और चम्पा सखी अपने-अपने घर भी गयीं तब उस सूने घर में फूला और पारवाली की आंखों में फेरई दादू के संग वे बीस बीघे खेत नावते रहे, और उनके संग साहेब काका, मंगल काका की सुधि आती रही।

□□

बन्दरा-मुच्छन पर चिड़ियों के आते-आते सारा महुआ बिनकर इकट्ठा हो गया और घर भी पहुंच गया। फूलमती जब चम्पा सखी के पिछवारे से अपने घर की ओर चली, तभी उसे सूचना मिल गयी कि उसके यहां पुरन्दरपुर का नाऊ उसके गौने का दिन निश्चय करने आया है। फूला पिछवारे से अपने घर में गयी, और भौजी के सामने आकर बच्चों की तरह रोने लगी—फूला गौने तब तक नहीं जायेगी, जब तक उसकी चम्पा सखी का ब्याह नहीं हो जावेगा! साहेब काका और मंगल चौधरी ने इन दो बेटियों की सहज प्रीति देखकर दोनों की शादियां पुरन्दरपुर में तै की थीं, कि आजन्म दोनों एक ही गांव में रहेंगी। फूला की शादी तो झटपट हो गयी, पर चम्पा सखी की शादी में प्रतीक्षा थी कि दूल्हे की एफ. ए. की परीक्षा समाप्त हो जाय। उसी बीच अभाग्यवश ज़मींदारी टूटी, साहेब काका का स्वर्गवास हुआ और चम्पा के विवाह का आर्थिक पहलू डगमगा गया और तभी से वह शादी रुकी पड़ी है।

लेकिन चाहे जो हो, कुछ भी हो जाय, दोनों सखियां पुरन्दरपुर जायेंगी तो एक ही संग जायेंगी, नहीं तो जन्म-भर यहीं शिवपुर में ही बैठी रह जायेंगी!

शाम तक फेरई भइया घर आ जायेगा, इसलिए शीघ्र ही फूला ने भौजी द्वारा पुरन्दरपुर के नाऊ को बिदाई दी। चम्पा सखी के मंगेतर, **जिसे फूलमती सखाजी सम्बोधित करने लगी थी, के नाम एक चिट्ठी, दो हाथ के बने हुए बटुए और एक रूमाल, उसने नाऊ के हाथ भेज दिये।**

उसी दिन ठीक तीसरे पहर ददुआजी के द्वार पर मालगुजारी न चुकता करने की सरकारी कुरकी आयी—द्वार पर कोई नहीं था, भीतर औरतें अपनी करुणा में रोने लगीं। सारे गांव में खबर फैल गई। कुल तीन सौ पैंतीस रुपये की बात थी, फिर भी रोने के सिवा ददुआजी के घर और कोई विकल्प न था। गांव खड़ा तमाशा देख रहा था। कुरकी शुरू होने वाली थी। चम्पा दौड़कर अपनी सखी के पास आयी, पर कहीं कुछ नहीं, बस वह भरी-भरी आंखों से पता नहीं क्या शून्य में देखती रही। फूलमती दौड़कर पारवाली भाभी के अंक से लगकर रोने लगी। भाभी को लगा, जैसे उसकी आंखों में कोई पहाड़ पिघल कर बरस रहा हो—उसके सामने एक ही दृश्य में मंगल चौधरी और साहेब काका दोनों पारवाली भाभी का जैसे रास्ता रोकने लगे। फेरई का अट्टहास उस दृश्य को बांधता चल रहा था—पर पारवाली का मन तो जैसे उस हिरनी की तरह हो गया था, जो जंगल से भाग कर समुद्र तट पर आ खड़ी है। वह उसी क्षण सबसे छिप कर अपने अंचरे में कुछ छिपाये ददुआजी के घर आयी, और कुरकी सहसा रुक गयी। खर्चा और हरजाना-सहित मालगुज़ारी चुकता हो गयी!

उस शाम तक भी फेरई घर वापस न आया, केवल ददुआजी दोनों भाई घर वापस लौटे और यह सूचना ले आये कि इजलास और हाकिम को अपमानित करने पर फेरई हवालात में बन्द हो गया, और उसे ज़मानत पर छुड़ाने वाला वहां कोई न मिला।

अपने ददुआ के मुंह से यह सुनते ही साहेब दादी ने चौखट से अपना माथा फोड़ लिया, घायल सिंहनी जैसी बोलीं, "और तुम दोनों क्या थे? कहां थे? तुमने उसकी ज़मानत क्यों नहीं ली? तुम भी हवालात में क्यों नहीं बन्द हो गये? फेरई को हवालात में छोड़कर तुम क्यों घर वापस आये?" साहेब दादी पागल-सी हो गयी थीं, "तुमने

मेरा दूध कलंकित किया! वंश के नाम को डुबो दिया। चौधरी के घर में.....!" दादी उसी हालत में घर से बाहर दौड़ीं, "आज से मैं तेरे घर में पानी नहीं पिऊंगी।"

दादी महुआरी वाले बाग की ओर बढ़ने लगीं, पीछे-पीछे ददुआजी, दोनों भाई, दादी का पीछा करने लगे। "मैं हूं फेरई की मां! मैं जा रही हूं उसकी ज़मानत लेने।" दादी कहती चली जा रही थीं।

ददुआजी ने दादी को रोकते हुए कहा, "मैं पांव पड़ता हूं, बुम घर लौट चलो, हम जा रहे हैं फेरई की ज़मानत लेने!"

"विश्वासघाती हो तुम लोग, मुझे विश्वास नहीं तुम पर। तुम लोग उसके संग कोई और धोखा कर सकते हो। मैं जाऊंगी, आज मुझे और कोई नहीं रोक सकता।"

सुबह होते-होते कचहरी में छतनार पीपल के नीचे वाले कुएं की जगत पर साहेब दादी के संग, ददुआजी, राजा भाई, चम्पा, फूलमती और पारवाली भाभी, सब एक साथ आ रुके। उनमें से किसी को भी न भूख थी न प्यास, न असहज राह की वह थकन। सब जैसे किसी भावावेश में थे।

पहले पहर में फेरई की जमानत मंजूर हो गयी। हवालात से बाहर निकलकर उसने एक आंख से भी साहेब दादी, चम्पा, फूलमती और पारवाली को नहीं देखा, जिनके निःशब्द आंसू एक ही करुणा में डूब रहे थे। वह आवेश में बढ़ता हुआ उस ओर जा रहा था, जहां दो शीशम के पेड़ थे और उनके पीछे दोनों भाई ददुआ जी खड़े थे— छिपे हुए, डरे-से, माथा झुकाये।

फेरई ने भूखे सिंह की तरह बढ़कर ददुआ जी की दोनों बांहें भींच लीं, "किसने ली मेरी ज़मानत?"

दोनों भाई माथा झुकाये चुप थे; चारों ओर से आंसुओं की गीली परिधि बनकर वे चारों औरतें घिर आयी थीं।

"किसने ली मेरी ज़मानत?" फेरई के स्वर में आवेश बढ़ गया था, "तुमने ली मेरी जमानत?" स्वीकृति में ददुआ का केवल सिर हिला, जिह्वा न हिली!

"क्यों ली मेरी ज़मानत?"

घायल हिरन की भांति फेरई 'क्यों! क्यों!' की चीख से सारे वातावरण को करुण करता जा रहा था, और शेष सब चुप थे, किसी के भी पास फेरई के किसी भी 'क्यों' का कोई उत्तर नहीं था। सबका माथा झुका था।

और एकाएक जैसे फेरई की आर्त चीख से शीशम के दोनों पेड़ गिरे— ददुआजी और राजा भाई टूटकर फेरई के पैरों में गिर पड़े, और फेरई स्वयं शिशुवत् रोता हुआ साहेब दादी के अंक में गड़ गया।

शीशम की उस छाया में सब एक में बिंधकर रोते रहे, रोते रहे, कौन किसको मनाये! कौन किससे शब्दों में उलाहना दे, और कौन अपनी कैफ़ियत वाणी में दे, कवल आंसू ही जैसे एक माध्यम था—और उसी माध्यम से, उसी स्नेह-गंगा में सब भीगकर तर हो गये थे और सब अपने मूल पर, अपने अधिकृत सत्य पर उतर रहे थे— सबके कंधों पर सबकी बांहें, और अब उन बांहों की खाली मुट्ठियों में भाव, असंख्य भाव!

□□

दूसरे ही दिन मंगल पड़ रहा था। पूरब सिवान के अंत में नट्टबाबा का पीपल था— अकेला, छतनार और जैसे युगों का पुराना पेड़। उसी नट्टबाबा को फूलमती और चम्पा की सम्मिलित मनौती थी— और मनौती भी बंदरा-मुच्छन के महुए की एक कड़ाही लपसी और सोहारी।

पहर दिन चढ़ते-चढ़ते जब नट्टबाबा को लपसी-सोहारी चढ़ाकर दोनों सखियां घर को लौटने को हुईं, उसी समय उन दोनों ने देखा, उसी रास्ते से कोई साइकिल पर चढ़ा चला आ रहा था। चम्पा ने दूर ही से पहचान लिया और वह अपनी सखी को खींचती हुई पीपल के पीछे छिप गई। लेकिन दूसरे ही क्षण सखी को वहीं छिपा चम्पा रास्ते पर आ खड़ी हुई। और रास्ता रोक, लाज और संकोच से भरी मुसकराती रही— न नमस्ते, न रामजुहारी, न अन्य कोई औपचारिकता।

बस सामने झुके पहाड़ की तरह बोली, "देखो पहुना! हमें मालूम था कि तुम इसी रास्ते आज जाओगे! कितने अच्छे हैं हमारे नट्टबाबा!

देखो न पहुना!..... अच्छा बैठो, पहले लपसी-सोहारी तो खाओ!" यह कहते-कहते चम्पा ने पहुना की साइकिल थाम ली।

बेचारा पुरन्दरपुर का पहुना हतप्रभ-सा था, लग रहा था, जैसे वह कहीं पकड़ा गया है। चम्पा अपनी कहती जा रही थी, पहुना अपनी छूट मांगता जा रहा था। फिर भी चम्पा के सब संकेतों और आग्रहों के सामने पहुना का सिर अपने-आप झुकता जा रहा था।

एकाएक उसी क्षण पीपल की ओट में कुछ चूड़ियां खनकीं और एक आवाज आई, "जब तक मेरी सखी का पुरन्दरपुर में ब्याह नहीं होगा, तब तक मेरा गौना नहीं होगा। शिवपुरा से हमारा डोला एक ही संग निकलेगा, अकेला कभी नहीं!"

"इसे मै जानता हूं, और तुम्हारी सखी के 'वह' भी जानते हैं, और यह जरूर होगा।" पहुना ने स्निग्ध स्वर में कहा, "यह होगा, होकर रहेगा, इसी बैसाख में होगा– देख लेना।"

पहुना चला गया। चम्पा वहीं लाज में गड़ी बैठी रह गयी। जैसे उससे उठा न गया। फूलमती ओट से निकली, सखी के पास आई, उसे गुदगुदाकर उठाने लगी। चम्पा रो रही थी, सखी को पाकर वह उससे चिपट गयी और उसकी सुबकियों में जैसे स्पष्ट स्वर उभरने लगे– "सखी! मेरे भैया के पास एक पैसा भी नहीं, ददुआजी पर अनेक कर्ज़ हैं। घर के सब गहने गिरवी हैं, कैसे ब्याह होगा! कौन करेगा ब्याह!"

फूलमती चम्पा को गुदगुदाती हुई कह रही थी, "यह मुझ पर छोड़! उठती है कि नहीं! उठ देख न! देख मेरे जीते जी रोती है तू! अरे देख न, लाल घोड़े पर चढ़कर मैं तुझसे ब्याह करने आया हूं! तू रानी सारंगा है, मैं सदावृज हूं; तू मेरी अनबोलती रानी, मैं तेरा बाला लखन्दर हूं; तू सागरमती है, मैं हंसों का राजकुमार हूं!"

(१९५५)

रामजानकी रोड

नाम है रामजानकी रोड, पर है सड़क कच्ची। नहीं राम, भूल हो रही है। पूरी रोड कच्ची नहीं है। अयोध्या की सरजू नदी के इस पार बस्ती जिले में राम रेखा नदी से लेकर, जहां से यह रोड शुरू होती है, गोरखपुर जिले की भीतरी सरहद तक, यानी कि बंसवारी की कुआनो नदी तक ही यह सड़क कच्ची है।

जिला बस्ती के क्षेत्र तक।

कुआनो नदी के उस पार सिकरीगंज, उरुआ बाजार से आगे यह सड़क पक्की है। चमाचम। जिला गोरखपुर। आगे है गोला बाजार, फिर बलिया जिला, छपरा डिस्ट्रिक्ट, चम्पारन, मोतिहारी, मिथिला और वह जनकपुर।

जै हो मातु जानकी!

सिया वर रामचन्द्र की जै!

इस रोड पर मुसाफिर के पांव पड़ते ही वह यही जै-जैकार कर उठता है। गायघाट से कलवारी तक डाक लेकर दौड़ता हुआ वह हरिकारा यहां तक बताता है कि इस राम-जानकी रोड पर चोर-चण्डाल भी जब पांव रखते हैं, तो वे भी धीरे से यही बोलते हैं– जै हो मातु जानकी ..... और डाकू, चोर पराया धन लिये हुए कभी भी इस रोड के बीच से नहीं चलते। किनारे से चलते हैं वे।

पर कानपुर की रस्तोगी कम्पनी की जीप इस रोड के बीच से चलती है। ड्राइवर है वही लाल बेनीसिंह—गोरा, सुन्दर राजपूत नौजवान। खिंची हुई रतनारी आंखें। जीप पर उसके बगल में बैठते हैं रस्तोगी कम्पनी के मैनेजर साहब। पीछे कम्पनी के तीन सिपाही। और लाल बेनीसिंह की यह जीप रामजानकी रोड पर बेतहाशा दौड़ती है— हैंसर बाजार से लेकर कलवारी तक। रास्ते में इसके स्टेशन हैं— गायघाट, कुदरहा, बाराकोन्नी, सनिचरा और हैंसर बाजार। **हेडक्वार्टर** है कम्पनी का गोरखपुर शहर में— गोलघर, पीली कोठी। कम्पनी के मालिक बाबू यहीं रहते हैं।

हर महीने की पन्द्रह तारीख को लाल बेनीसिंह की जीप पर नोटों से भरी थैलियां रखी जाती हैं। बही-खाते और प्रोनोट-दस्तावेज के कागजात रखे जाते हैं। मैनेजर साहब कुरते के नीचे कमर में पिस्तौल बांधते हैं, हाथ में पान-तम्बाकू से भरा हुआ चांदी का डिब्बा संभालते हैं। सिपाही लोग मूंछों पर ताव दिये हुए पीछे बैठते हैं। और लाल बेनी इन सबको लादे हुए गोरखपुर से पश्चिम-दक्षिण दिशा में अपनी जीप बढ़ाकर झट उसी रामजानकी रोड की कच्ची सड़क पर मोड़ देता है। जै मातु जानकी.....

पहले पड़ता है वही हैंसर बाजार। यहीं से कर्ज पर रुपया बांटने का काज शुरू होता है। सच, बड़ा नाम है उस रस्तोगी कम्पनी का। जीप देखते ही कर्ज लेने वाले दौड़ते हैं। इस तरह कि वह धन मुफ्त में ही सदाव्रत की तरह बंट रहा हो। मुकदमा, ब्याह-शादी, **मरनी-करनी, घूस-नजर सब इसी कर्ज से। धकाधक प्रोनोट-दस्तावेज** लिखे जाते हैं। किस्त बंधती है और थैली में से दस-दस, पांच-पांच के नोट गिने जाते हैं। दनादन अंगूठे लगते हैं। नंग-धड़ंग बच्चे-बूढ़े, सूखी हुई जवान औरतें अपने बच्चों को नंगी छाती से चिपकाये हुए, सब दूर खड़े बस वही रुपयों का गिनना देखते हैं चुपचाप— मन्त्रमुग्ध।

इस तरह हैंसर बाजार से कलवारी तक जाते-जाते **लाल बेनीसिंह** की जीप को आठ दिन लग जाते हैं। और ठीक दसवें दिन कलवारी से वही जीप फिर हैंसर बाजार की ओर बढ़ती है—इस बार पिछले महीने के कर्ज़दारों से किस्त के नकद रुपये वसूलती हुई।

और महीने के अन्त में वह जीप नोटों से भरी हुई दुगुनी थैलियां लादे फिर उसी गोरखपुर मालिक बाबू की कोठी पर पहुंच जाती है।

वह गोरखपुर!

वही पीली कोठी।

यहां पहुंच कर वह लाल बेनीसिंह सिहर उठता है। बहुत जोर से **कुछ कांपने लगता है उसके भीतर। कारण है वही जनक-नन्दिनी—मालिक बाबू की बड़ी लड़की, जो यहां कालेज में बी. ए.** में पढ़ती थी।

तब लाल बेनीसिंह मालिक बाबू का ही निजी ड्राइवर था। ठीक दस बजे जनकनन्दिनी को नयी स्टूडीबेकर पर बैठाये हुए वह उसे कालेज पहुंचाता था, और तीन बजे उसे कालेज से घर लाता था।

इसी लाल बेनी ने ही एक दिन जनकनन्दिनी को उस रामजानकी रोड की कथा बतायी थी—मालिक बाबू के '**बिजनेस**' की ओर उस रोड की कथा कि जिस पर अयोध्या से जनकपुर रामचन्द्र जी की बारात गयी थी; कि जिस पर जानकी और राम का रथ चला था। दुल्हन जानकी, दूल्हा राम। पीछे-पीछे वही तीनों भइया—लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न अपनी-अपनी प्रिया के संग। और पीछे वही अवध की बारात। मिथिला जाती हुई और मिथिला से अवधपुरी लौटती हुई।

कितनी पवित्र है वह रोड! कितनी पावन!

और एक दिन वह जनकनन्दिनी उसी लाल बेनीसिंह के संग वही रामजानकी रोड देखने के लिए पागल हो उठी।

"ठाकुर, तुम मुझे समझाओ नहीं। समझ लो, मैं दीवानी हो गयी हूं।"

"पर....."

"पर कुछ नहीं! बस, मुझे यहां से ले चलो अपने संग उसी भूमि पर।"

"लेकिन ....."

"लेकिन कुछ नहीं। बस, चलो, ठाकुर!"

और वह ठाकुर उस जनकनन्दिनी को उसी स्टूडीबेकर में अपने संग बैठाये इसी रामजानकी रोड पर ले आया था। कालेज जाने के समय ठीक दस बजे वे दोनों गोरखपुर से चले थे और बारह बजते-बजते सामने वही रामजानकी रोड। माघ का महीना। सड़क के दोनों ओर गेहूं, मटर, अरहर, ऊख के लहलहाते खेत। सरसों और अलसी के फूलों से भरी हुई वह धरती। जनकनन्दिनी सड़क की धूल को अपने माथे लगाती और जगह-जगह कार रोक कर उन फूल-भरे खेतों में सो-सो जाती। अपूर्व निद्रा। शस्य श्यामला स्नान। गेहूं-मटर की हरीतिमा में बैठ कर जैसे अपने प्राणों को स्पर्श करने लगती और नंगे पैरों उसी रोड की धूल में दौड़ती। नीले अन्तरिक्ष में न जाने क्या निहारती! रोड के किनारे-किनारे गांवों-बस्तियों में अनायास चली जाती। गरीब, दुर्भिक्ष पीड़ित लोग, गन्दे घर, नंग-धड़ंग बच्चे। फूल-सी कुम्हलाई हुई वे औरतें। अभाव-अन्धकार में पलते हुए वे लोग। जनकनन्दिनी ने वह सब इतना पहली ही बार देखा था।

सो वह जनकनन्दिनी ठाकुर के संग-संग रामजानकी रोड देख कर करीब आधी रात की बेला में गोरखपुर लौटी थी।

कोठी में बड़ा तहलका मचा था। किसी ने वहां यह अफवाह उड़ा दी थी कि लाल बेनीसिंह कार सहित जनकनन्दिनी को लेकर भाग गया।

उन दोनों को कोठी के सामने देखते ही मालिक नें लाल बेनी के ऊपर अपनी भरी बन्दूक तान ली थी। पर उस ठाकुर के सामने तड़क कर आ खड़ी हुई वही जनकनन्दिनी। कितनी बड़ी घटना थी वह! मालिक बाबू क्या, इस कोठी में किसी ने भी इसकी कल्पना तक न की थी। बहुत बड़ी घटना थी वह। दोनों के लिए बड़ी। बहुत बड़ी..... इसलिए नहीं कि तब जनकनन्दिनी की पढ़ाई बन्द कर दी गयी, इसलिए भी नहीं कि तब से लाल बेनीसिंह को वह स्टूडीबेकर छूने तक नहीं दी गयी और उसे फिर तब से रामजानकी रोड पर वही केवल जीप चलानी पड़ी, इसलिए भी नहीं कि अब उसे कोठी के भीतर पांव रखने तक का हुकुम नहीं, बल्कि इसलिए कि तब से उसे एक अजब पुकार

सुनायी पड़ती है—हर क्षण की वह पुकार जो उस कोठी में एकाएक बन्द कर दी गयी! पर वह अनाहद पुकार उसे हर क्षण जगाये रखती है। हिरणी की तरह वे आंखें उसके सामने सदा खिंची रहती हैं। एक अजब सुगन्धित, एक गजब की कोमलता, जिसकी अनुभूति अभी तक उस लाल बेनी को नहीं थी! उस अबोध को, जैसे कोई फूलों का बाण बेध गया हो—आर-पार! एक आश्चर्यजनक दर्द जिसे अपने मन में संजोये हुए वह अपने माथे से उसे छू लेना चाहता हो! एक अद्भुत रहस्य जिस पर वह अपने आपको न्योछावर करना चाहता हो!

कम्पनी के स्टाफ के लोग तब से मालिक बाबू से कहते हैं कि इस बेईमान पाजी लाल बेनीसिंह को कम्पनी से निकाल दिया जाये। पर मालिक को लाल बेनीसिंह के चरित्र की एक और भी बात नहीं भूलती—विश्वास और वफादारी की बात!

तब लाल बेनीसिंह नया-नया ही कम्पनी में ड्राइवर हुआ था—मालिक का निजी ड्राइवर। कानपुर की बात है वह—असली घर की बात। मालिक बाबू की वह कोई यार-दोस्त थीं। उन्हीं को संग लिये हुए वह एक जगह गये थे। बहुत पी ली थी दोनों ने। एकदम बेहोश। स्त्री के शरीर-भर में बेशकीमती जेवरात। मालिक बाबू के पास धन—पर्स में भी और कार में भी। लाल बेनीसिंह ने एक-एक को उठा कर कार में रखा और जैसे ही वह कार बढ़ाने को हुआ, सामने चार बदमाश। लाल बेनीसिंह अकेले उनसे निहत्थे लड़ा था। दोनों हाथ उसके लहू-लुहान, पर वह मालिक को वहां से सुरक्षित ले आया था। सब कुछ सुरक्षित। और आज तक उस घटना को कोई नहीं जान सका था।

पर इसे वह जनकनन्दिनी जानती थी। हाथों में घाव के निशान देखकर एक दिन कालेज जाते समय उसी जनकनन्दिनी ने ही पूछा था, "ठाकुर, तुम्हारे इन हाथों में घाव के ये निशान कैसे हैं?"

"ये निशान ....." ठाकुर ने उसे सब बता दिया था।

और भी सब ठाकुर के विषय में वह जनकनन्दिनी जानती है—उसकी हाई स्कूल तक की पढ़ाई, उसका गांव, उसकी विधवा मां, उसका निश्छल व्यक्तित्व, उसकी हर एक सांस।

और एक दिन लाल बेनीसिंह घबरा गया।

रात का समय था। वह कोठी की दायीं ओर गैरेज के बाहर चारपाई बिछाये सो रहा था। रामजानकी रोड की पन्द्रह दिन की यात्रा करके वह उसी दिन लौटा था। आसमान में खूब घने बादल छाये थे। गैरेज के ऊपर कटहल का घना वृक्ष झुका था। उसके फूलों की सुवास चारों ओर बरस रही थी।

लाल बेनीसिंह वह आवाज सुनते ही हड़बड़ा कर उठ गया। सामने जो देखता है, तो उसे विश्वास नहीं होता—वही जनकनन्दिनी आयी खड़ी है। वही मुग्धा सुन्दरी, दीवानी जनकनन्दिनी।

"ठाकुर, उठो, मुझे लेकर भाग चलो कहीं!"

"पर कैसे?"

"मैं बताती हूं न....."

"नहीं.... नहीं, ऐसा नहीं करते। सोचो तो....."

"ठाकुर, तुम्हारे इन हाथों की कसम, मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती"

"नहीं..... नहीं, तुम्हें बहुत कष्ट होगा।"

"नहीं, मुझे बहु-बहुत सुख होगा, ठाकुर! तुम नहीं जानते कि...."

जनकनन्दिनी हहाकर रो पड़ी। निःशब्द रोती रही। ठाकुर थर-थर कांपता रहा, जैसे कटहल के पात हवा में कांप रहे हों। उसके दोनों हाथ जनकनन्दिनी ने अपने हाथों में बांध कर अपने सीने में गड़ा लिये थे। अंक के समुद्र में दोनों हाथ, जिन पर उसके नयन-नक्षत्रों की अनवरत वर्षा हो रही थी। उन नक्षत्रों के बीच बिजली तड़प-तड़प कर प्रकाश बिखेर रही थी। पर जो उस आकाश में गरज रहा था, उससे केवल ठाकुर का ही आकाश कांपता था। जनकनन्दिनी तो जैसे धरती थी—शान्त, शीला, रसमयी, समर्पिता....

"तुम मुझे अपना प्यार नहीं दोगे ठाकुर?"

ठाकुर रोने लगा। वही उत्तर था उसका।

फिर वह भरे कण्ठ से बोला, "तुम मुझे शक्ति दो नन्दिनी!"

"दूंगी, सब कुछ दूंगी, ठाकुर! बस, तुम घबराना नहीं।"

बस, यह कह कर जनकनन्दिनी वहां से विजयी, परितुष्ट अभिसारिका की तरह माथा उठाये चली गयी। ठाकुर बस देखता ही रहा, जैसे कोई साक्षात् स्वप्न के भीतर देखता है और नाक में उसकी सुगन्ध भर जाती है। कान में उसका संगीत सुनाई देने लगता है। कण्ठ में उसकी अमृत-वर्षा होने लगती है।

अगले ही दिन कोठी के भीतर एक कोहराम मच गया। जनकनन्दिनी ने मां-बाप के सामने मुंह खोल कर कह दिया कि वह ठाकुर के संग ब्याह करेगी।

उस ठाकुर के संग! मालिक की बेटी का ब्याह?

उस ड्राइवर के संग! जनकनन्दिनी का ब्याह?

हां, ब्याह! सप्तपदी! स्वयंवर .....!

दो दिनों तक मालिक बाबू अपने कमरे से बाहर नहीं निकले। कम्पनी का हिसाब-किताब बन्द। मां का बस रोते रहना। और वह जनकनन्दिनी अपना माथा उठाये आश्वस्त बैठी रही—अडिग, निष्कम्प।

बाहर वह लाल बेनीसिंह तब से अपनी सांस बांधे अविचल बैठा है। और सब कुछ उस कोठी के आकाश में खिंचने लगा है, जैसे कोई इन्द्रधनुष खिंचे, जिसे न कोई बादल ढंक सके, न जिसे कोई हवा उड़ाये, जैसे कोई वह शंकर-पिनाक हो। जनकनन्दिनी का व्रत, संकल्प और धर्म, जिसे उठाने वाला केवल वही ठाकुर। केवल वही लाल बेनीसिंह।

अब क्या होगा?

जनकनन्दिनी का ब्याह.....

नहीं..... नहीं!

हां!

अच्छा.....!

तीसरे दिन वह लाल बेनीसिंह उस कोठी के भीतर बुलाया गया।

एक ओर मालिक बाबू, दूसरी ओर उनकी पत्नी। सामने वही जनकनन्दिनी। सिर उठाये। शान्त। अविचल!

"लाल बेनीसिंह!"

"हां मालिक!"

ठाकुर ने सहसा अपना माथा ऊपर उठाया। जनकनन्दिनी की नयन-डोर में उसकी आंखों के सारे पुष्प उसी क्षण ही गुंथ गये! अद्भुत पुष्पहार, जिसका एक छोर मानो ठाकुर के गले में है, दूसरा जनकनन्दिनी के। और लाल बेनीसिंह का माथा चमक गया।

"सुनो, ठाकुर!"

"जी!"

"तुम मेरी इस बेटी के साथ ब्याह करोगे?"

जी हां।"

और वहां का सारा आकाश निस्तब्ध रह गया। उस आकाश में कब से खिंचा हुआ वह इन्द्रधनुष, वह शंकर-पिनाक जैसे पुष्प बन उठा और उस पुष्पवत् शंकर-पिनाक को अपने उन हाथों में उठाये हुए वह अपलक मालिक बाबू की आंखों में देखने लगा।

उतनी आंखें! उतनी दृष्टि! और सब कुछ वहां चुपचाप। मौन खिंचा हुआ।

सहसा मालिक की आवाज फूटी, "ठीक है, ब्याह होगा! होगा ब्याह....." और एक दिन वह ब्याह हो गया।

तब मालिक बाबू ने एक नयी 'फारवर्डिंग एजेंसी' खोली। नाम रखा, 'ठाकुर फारवर्डिंग एजेंसी'। इसके आगे ठाकुर लाल बेनीसिंह को और कुछ नहीं मालूम। इसके लिए दो नयी ट्रकें खरीदी गयीं। बिल्कुल नये रास्ते और नयी सड़कें ढूंढ़ी गयीं।

रामजानकी रोड से नेपाल के बॉर्डर तक—बुटवल, तौलिहवा, गोबरहवा बाजार।

और नेपाल बॉर्डर से यहां इस कच्ची सड़क रामजानकी रोड से होते हुए आगे अकबरपुर-फैजाबाद.....

"ठाकुर फारवर्डिंग एजेंसी।"

दामाद और लड़की के रहने के लिए मालिक बाबू ने गोरखपुर के अलीनगर मुहल्ले में एक छोटा-सा सुन्दर मकान ले दिया। नयी एजेन्सी का काम ठाकुर को समझा दिया—नेपाल बॉर्डर से सामान इधर लाने और इधर से उधर पहुंचाने का काम। इसके लिए रस्तोगी फर्म से पांच सौ रुपये महीने की तनख्वाह दामाद के लिए तय कर दी। दो नये ड्राइवर भी तय कर दिये गये उन ट्रकों को चलाने के लिए। फारवर्डिंग एजेन्सी का 'रूट' भी निश्चित हो गया। बुटवल से डुईहिया घाट, तौलिहवा, गोबरहवा बाजार, नौगढ़, बूढ़ी राप्ती, राप्ती, बांसी, रुधौली, मेहदावल, बखिरा से होते हुए खलीलाबाद, फिर वही रामजानकी रोड।

और सारी जिम्मेदारी ठाकुर लाल बेनीसिंह की। लेन-देन, फायदा-नुकसान, हिसाब-किताब सब रस्तोगी कम्पनी का काम और सारा नाम उसी लाल बेनीसिंह का।

और उस ठाकुर फारवर्डिंग एजेंसी का काम शुरू।

चार महीने वर्षा के बिताकर पन्द्रह सितम्बर से ट्रकों का रूट पर आना-जाना प्रारम्भ हो गया। महीने में एक बार ठाकुर लाल बेनीसिंह को बतौर मालिक, ड्राइवर के बगल में बैठ कर रामजानकी रोड से बुटवल तक जाना पड़ता था और फिर एक ही बार भरे सामान के साथ लौटना पड़ता था।

एक दिन जनकनन्दिनी ने पति से पूछा, "तुम्हारी फारवर्डिंग एजेन्सी के ट्रकों पर किसका सामान इधर से उधर आता-जाता रहता है?"

"कुछ तो कम्पनी का ही माल रहता है और बाकी अन्य व्यापारियों का सामान।"

"कम्पनी का क्या माल आता है इधर से?"

"यही चावल वगैरह।"

"और इधर से उधर कम्पनी का क्या माल जाता है?"

ठाकुर ने बताया, "चीनी, मिट्टी का तेल, तम्बाकू, कपड़ा, दाल और पेट्रोल!"

जनकनन्दिनी ने और जानना चाहा, "और व्यापारियों का क्या-क्या माल इधर से जाता है?"

"कम्पनी के अलावा इधर से और किसी का भी कोई सामान उधर नहीं जाता। ट्रक खाली ही नहीं रहती।"

"और व्यापारियों का उधर से इधर क्या-क्या माल आता है?"

ठाकुर ने इसका भी उत्तर दिया, "चावल, खुली चाय, अदरक, सोंठ, कच्चे फल, चीड़-सागौन के तख्ते और बीड़ी बनाने के पत्ते, तेजपात, इलाइची, जावित्री वगैरह।"

"इतने-इतने सामान! इतना माल!"

जनकनन्दिनी आश्चर्यचकित रह गयी। फिर पूछा उसने, "वहां से यहां इतनी दूर इतना-इतना माल ले आने और ले जाने का सरकारी हुक्म है क्या?"

"कुछ है। कुछ नहीं भी है।"

"मतलब ?"

"ऐसा है कि सरकार से कम्पनी के पास अपनी फारवर्डिंग एजेन्सी का परमिट और लाइसेंस तो है ही।"

"यह परमिट और लाइसेंस किसके पास है?"

"मेरे पास है।"

ठाकुर ने पत्नी को दिखा दिया।

पर जनकनन्दिनी अब भी सन्तुष्ट न हुई।

"इसे बनवाया किसने?"

"अरे वही कम्पनी ने..... मालिक बाबू ने। काफी रुपये खर्च हुए हैं, तब मिला है कहीं!"

"और जिन सामानों के ले आने, ले जाने का परमिट और लाइसेंस नहीं है, उनके लिए....."

"उनके लिए घूस-नजराना बंधा है।"

"किसे?"

"नेपाल बॉर्डर से लेकर रामजानकी रोड तक।"

"कौन लोग हैं वे?"

ठाकुर गिनाने लगा, "पुलिस के लोग, ट्रैफिक सिपाही, एक्साइज इन्सपेक्टर, उनका स्टाफ, नदी के पुल के चौकीदार, चुंगी वाले, तहसील के हाकिम....."

जनकनन्दिनी इतनी बड़ी कैफियत सुनकर घबरा गयी। उसने अपने पति से एक दूसरा सवाल किया, "इतना सारा घूस-नजराना कौन देता है?"

"वही रस्तोगी कम्पनी।"

"और इससे कम्पनी को लाभ कितना होता है?"

"यह तो पता नहीं।"

जनकनन्दिनी चुप हो गयी। गम्भीर। एकटक वह बहुत देर तक अपने ठाकुर का मुंह निहारती रही।

"अरे, इस तरह तुम मेरा मुंह क्या देख रही हो?"

"सुनो, ठाकुर, यह काम बुरा है।"

"बुरा है, तो कम्पनी के लिए। मैं तो गाढ़ी कमाई करता हूं और उसके बदले अपनी तनख्वाह पाता हूं।"

"वह तो ठीक है। किसी दिन यह घूस-नजराना कहीं फेल हो गया तो?"

ठाकुर ने हंस कर उत्तर दिया, "अरे, कहीं घूस-नजराना भी फेल होता है! और इसका कोई हद्-हिसाब है क्या? एक जगह घूस-नजराना फेल भी हो गया, तो हो जाने दो, ऊपर और जगहें तो हैं। अरे, यह तो कम्पनी का रोज का धन्धा है। इसमें जरा भी कोई डर नहीं।"

अपने पति का वह उत्साह देख कर जनकनन्दिनी उसका हाथ पकड़ कर रोने लगी, "कम्पनी को डर न सही, तुम्हें तो डर है!"

"अरे, मुझे क्या डर!"

"मुझे तो डर लगता है ठाकुर।"

ठाकुर हंसने लगा। जनकनन्दिनी उतनी ही और रोती रही। उसके वे आंसू तब थमे, जब उसने अपने पति से यह सौगन्ध मनवा

ली, "जिस ट्रक पर बिना लाइसेंस और बिना परमिट का सामान लदा हो, उस पर तुम यात्रा नहीं करोगे!"

"ठीक है, नहीं करूंगा!"

ठाकुर तब से महीने में एक बार उसी ट्रक के संग आता-जाता है जिसमें बिना परमिट और बिना लाइसेन्स का कोई विशेष सामान न लदा हो।

पर वह जनकनन्दिनी अब भी और न जाने क्या चाहती है! एक दिन उसका पति जब यात्रा से घर लौटा, तो वह उसका हाथ उसी तरह अपने अंक में गड़ाये, भरे कण्ठ से बोली, "यहां से कहीं और चलो, ठाकुर। कहीं बहुत दूर। या अपने उसी गांव में ही मां के पास, ताकि मुझे लगे कि मैं तुम्हारे संग अपनी ससुराल में हूं। मैं यहां अपने नैहर में नहीं रहना चाहती। मुझे यहां डर लगता है, ठाकुर।"

"कैसा डर?"

"पता नहीं, कैसा! पर बहुत डर लगता है मुझे।"

"अब तो कोई ऐसी डर की बात ही नहीं है!"

"मुझे कम्पनी की तुम्हारी इस तनख्वाह से डर लगता है।"

"कैसा डर?"

"अपने उसी पिता से!"

ठाकुर फिर हंसने लगा और जनकनन्दिनी फिर उसी तरह रोने लगी। बच्चों की तरह रुदन। ठाकुर उसे समझाने लगा।

जनकनन्दिनी बोली, "ठाकुर, मुझे सिर्फ तुम्हारा प्यार चाहिये। न यह सुख, न यह सुविधा। मुझे इस कम्पनी से डर लगता है। तभी अपने ब्याह के पहले मैंने तुमसे कहा था कि तुम मुझे लेकर कहीं भाग चलो।"

ठाकुर हंस कर बोला, "अरे, मालिक बाबू के घर से तुम्हें भगाकर ही तो मैं यहां ले आया हूं!"

"कहां? नहीं.....। हम भाग कहां सके हैं! हम तो और भी जकड़ लिये गये हैं। तुम तो उसी कम्पनी के नौकर ही रहे न!"

"तो क्या हुआ?

"हुआ क्यों नहीं, ठाकुर। तुम तो कुछ समझते ही नहीं!"

जनकनन्दिनी फफक कर रो पड़ी। बड़ी देर तक रोती रही। सारा मुख आंसुओं से तर। उसकी बड़ी-बड़ी निर्मल आंखों से वह आंसुओं की धारा जैसे टूटती ही न थी। वह उसी अश्रुमुख से बोली, "तुम मुझे न मिले होते, तो मेरी शादी उसी तरह हुई होती। उसी रस्तोगी वंश का वह कोई मेरा पति होता, जो इसी तरह की किसी और कम्पनी का मालिक होता या मालिक का पुत्र होता। मैं उसकी किसी एक बड़ी हवेली में बन्द रहती और उसके बच्चों की मां बनती रहती। आगे चलकर मेरे वे बेटे भी इसी तरह की अपनी-अपनी कम्पनियां खोलते और मेरी बेटियां भी फिर इसी तरह के रस्तोगी घरों में ब्याही जातीं। ठाकुर, इसमें रस्तोगियों का कोई कसूर नहीं। रस्तोगी तो महज एक उदाहरण मात्र है, एक कल्पना है, सारा कसूर तो ऐसी कम्पनियों के इस ढांचे का है। मैं नहीं चाहती कि इस ढांचे में मेरे ठाकुर का भी हाथ हो। मेरे ठाकुर....."

ठाकुर चुपचाप जनकनन्दिनी की बात सुनता रहा।

"सुनो, ठाकुर, जब तुम मेरे पास से उतने दिनों के ही लिए एजेन्सी के उस दौरे पर जाते हो न, तो मैं अकेली रात को अक्सर एक स्वप्न देखती हूं—अजीब-सा स्वप्न....कि तुम कोई काला वस्त्र पहने दौड़ रहे हो और कोई तुम्हारा पीछा कर रहा है। उसके हाथ में एक काली तलवार है। तलवार से ताजा खून टपक रहा है और उस खून के छींटे तुम्हारे माथे पर पड़ रहे हैं....."

कहते-कहते जनकनन्दिनी ठाकुर के अंक में अपना मुंह गड़ा कर चुप हो गयी।

ठाकुर ने उसे समझाना चाहा। उसे सान्त्वना दी, "सुनो....सुनो, अच्छा सुनो तो, इस महीने फारवर्डिंग एजेन्सी के अपने दौरे पर मैं नहीं जाऊंगा। कम्पनी में कल ही कह दूंगा।"

"नहीं, ठाकुर, तुम इस नौकरी को छोड़ ही दो। कल ही अपना इस्तीफा भेज दो। मैंने यह सब सोच कर तुमसे ब्याह नहीं किया था कि मैं वही मालकिन बन के ठाट से इस तरह के घर में बैठूंगी और तुम...."

ठाकुर बोला, "सच, मुझे कोई तकलीफ नहीं है। मैं तो तुम्हें पाकर जैसे स्वर्ग में हूं, नन्दिनी!"

"पर उस स्वर्ग का ब्याज भी तो तुम्हीं को भरना पड़ रहा है, ठाकुर।"

"कैसा ब्याज?"

"मेरा..... सोचती हूं, ठाकुर कि मेरा प्रेम कितना अच्छा व्यापार सिद्ध हुआ मेरे लिए! एक हाथ में मूलधन, दूसरे में ब्याज! वाह रे मैं! वही रस्तोगी कम्पनी यहां भी।"

ठाकुर ने उदास होकर पूछा—"फिर क्या करूं मैं तुम्हारे लिए, बोलो?"

"यह काम छोड़कर यहां से कहीं दूर चलो.....!"

"मालिक बाबू का कितना बड़ा अहसान है मुझ पर! वह क्या सोचेंगे?"

"कैसा अहसान?"

"तुमको मुझे दिया है।"

जनकनन्दिनी सहसा जाग गयी। उसके गोरे मुख पर जैसे किसी ने सिन्दूर पोत दिया हो। वह तड़प कर बोली, "मैं तुम्हारे हाथ में अपने उस पिता का दान नहीं हूं। मैं आत्मसमर्पण हूं। प्रिया हूं तुम्हारी। स्वयम्वरा हूं।"

□□

पूस का महीना था वह। उस महीने ठाकुर लाल बेनीसिंह अपने उस फारवर्डिंग के काम पर नहीं गया। बस, जनकनन्दिनी के साथ।

पर वह पूस का महीना बीत भी नहीं पाया था कि एक दिन ठीक दोपहर के समय एक्साइज और पुलिस, दोनों की जीपें ठाकुर के दरवाजे पर हरहरा कर आ रुकीं। रामजानकी रोड पर 'ठाकुर फारवर्डिंग एजेन्सी' की ट्रक पकड़ी गयी थी। उसमें ऊपर-ऊपर तो चावल के बोरे लदे थे, नीचे फर्श पर करीब पांच मन गांजा और चरस मिला था; उसी तरह चावल की बोरियों में बन्द।

ठाकुर फारवर्डिंग एजेन्सी!

नाम उसी ठाकुर लाल बेनीसिंह का!

पुलिस ने ठाकुर को गिरफ्तार कर लिया।

दोनों जीपें घर के दरवाजे से जनकनन्दिनी के पति को बन्दी बना कर ले गयीं।

जनकनन्दिनी की आंखों में एक भी आंसू नहीं। जरा भी प्रतिवाद नहीं। फरियाद नहीं। रस्तोगी कम्पनी के मालिक बाबू, जनकनन्दिनी के वही पिता, बेटी को समझाते हुए बोले, "घबराती क्यों हो, बेटी, इसमें कौन-सी बड़ी बात है! अभी मैं तुरन्त ठाकुर को ज़मानत पर छुड़ा कर ले आता हूं। अभी इसी वक्त!"

"और ?" जनकनन्दिनी ने बड़े ही ठण्डे स्वर में अपने पिता से पूछा।

पिता ने उत्तर दिया, "और क्या? अरे, ज्यादा-से-ज्यादा दो-चार महीने ठाकुर पर मुकदमा चलेगा। इसके लिए कम्पनी की तरफ से अच्छे-से-अच्छे वकील-एडवोकेट लगे हुए हैं। कम्पनी के मैनेजर हैं। वे लोग सरकार से मुकदमा लड़ लेंगे। इसका सारा खर्चा कम्पनी देगी। बस, इसमें किस बात की चिन्ता!"

"और?"

"मुकदमे में हमारी ही जीत होगी।"

"और?"

"ठाकुर फिर उसी तरह अपनी 'फारवर्डिंग एजेन्सी' का काम करेगा।"

"और ?" जनकनन्दिनी ने अन्त में जैसे विक्षिप्त स्वर में पूछा। फिर उस दृष्टि से उसने अपने पिता को देखा कि जैसे म्यान से अचानक कोई तलवार खिंच कर कौंध जाय।

उस अन्तिम 'और' का कोई उत्तर नहीं। वह पिता, वह रस्तोगी कम्पनी के मालिक बाबू, वह इनसान, इन तीनों को एक के ऊपर एक रख कर जैसे उस 'और' की तलवार ने उस पूरे ढेर को एक ही धार में आर-पार कर दिया हो।

जनकनन्दिनी को अकेले जो स्वप्न पिछले बहुत दिनों से अक्सर पीछा कर रहा था— वह तलवार का दुःस्वप्न, जिसमें से टपकते हुए खून के छींटे उसके बेतहाशा भागते हुए पति के माथे पर पड़ रहे थे, उसने आज उसे प्रत्यक्ष देख लिया कि वह तलवार यही है। यही है वह। यही है वह 'और'.....

जनकनन्दिनी ने बढ़कर हवा में तनी हुई वह तलवार अपनी दोनों मुट्ठियों में भींच ली। वह तलवार आज उसकी मुट्ठी में! फिर वह निहारने लगी। निहारती रही। निहारती रही। और उसकी धार पर नन्दिनी की अश्रुधार बहती रही। 'और'.... 'और'...

(१९५६)

द्रौपदी

लड़ैता की बंसवारी में पिछले कई दिनों से बनमुर्गियां रो रही थीं। पास की गड़ही में खूब पानी भरा था। अषाढ़ के अन्तिम दिन थे। गड़ही में गांव-भर की भैंसें नहा रही थीं। कुछ भैंसों पर नंगे चरवाहे बैठकर बेचारी बनमुर्गियों को चिढ़ा रहे थे। पर बनमुर्गियां कोयल तो थीं नहीं, जो उन लड़कों के चिढ़ाने से चिढ़तीं। वे गरीब थोड़ी देर रोकर चुप हो गयीं। फिर लड़के गड़ही से निकलकर चिलम पीने की ताक में लड़ैता अइया के दुआरे आ पहुंचे। दुर्भाग्य से दुआरे पर लड़ैता ही बैठी मिली। लड़कों को देखते ही वह काली माई की तरह आंख लाल किये हुए डण्डा लेकर मारने दौड़ी—दहिजरा के पूते कहीं के! निबहुर के कोलियां जाओ! नंग-धड़ंग हमरे दुआरे पर आय खड़ा होथिन ! यहां जनो इनकै छतीसी महतारी बैठी बाय!

लड़के चमका-चमका कर हंसते-चिढ़ाते हुए भाग रहे थे और लड़ैता उतने ही क्रोध-आवेश में घिनाफोर गालियां देती जा रही थी। लड़के भागकर गड़ही के उस पार ठाकुर की बगिया में जा पहुंचे। खूब आम पके थे और चू भी रहे थे। पूरन बाबा खाट पर बैठे हुए चिलम पी रहे थे और छोटे-छोटे लड़कों से आम बिनवा रहे थे।

दौड़कर भागे हुए चरवाहों को देखते ही पूरन बाबा समझ गये कि लड़के लड़ैता को चिढ़ाकर आये हैं। वह बड़े मगन हुए। सत्तर

साल की उमर, मुंह में एक भी दांत नहीं, पर स्वभाव और आदत से बिल्कुल लण्ठ और हंसोड़। औरतों ने पूरन बाबा का नाम चिबिल्ला रख छोड़ा था। सो, वह चरवाहों को अपने सामने पाते ही ठठाकर हंस पड़े। हाथ की चिलम उन्हें दे दी और खीस निपोरकर बोले— लड़ैता को ऐसे न चिढ़ाओ। उसे ऐसे चमकाकर कहो। चिबिल्ला बाबा ने स्वयं चमकाते हुए दिखाया— "ऐसे कहो, **लंगड़ भचंगड़ के तीन मेहरी, इक कूटै, एक पीसै, एक भांग रगरी! "लंगड़ बोलै टिर्रर्SSSटिर्रर्SSS!**

लड़ैता के बुढ़ऊ भगत की एक टांग वास्तव में टूट गयी थी। आज से आठ साल पहले लड़ैता के घर और ठकुरडीहा के गौतम लोगों के बीच बड़ी भयानक लाठी चली थी। चार बीघे धान के खेत के ऊपर। एक ओर लट्ठबाज पचास गौतम और इधर लड़ैता के बुढ़ऊ भगत, जिनकी अवस्था उस समय पचास साल से कम न थी, और उसके चार नाहर लड़के, फलई, बहोरी, सुखई और दुखई। लोग बताते हैं, पक्के चार घण्टों तक पिपरहिया के नाले पर लाठी चली। फांड़ बांधे, हाथ में गँड़ासा लिये लड़ैता भी उस महाभारत में कृतसंकल्प खड़ी थी और दुश्मनों को घिनफोर गालियों से ललकारती हुई अपने पुत्रों को उद्‌बोधित कर रही थी—मार मेहनरों को! बच के जाय न पावैं! मार दहिजरों को! छटी कै दूध याद आवै! मार बढ़ि कै फलई, बहोरी! खड़ी चूंचीं के दूध पियाये दूध पियाये हुई, बेटवा! मार!... मार!... मार दे!

उसी फौजदारी में बुढ़ऊ की दायीं टांग टूटी थी, पर अन्त में विजय लड़ैता के पुत्रों की हुई थी। गौतम लोग खटिया पर लाद-लाद के थाने पहुंचाये गये थे! कोई सीधे पांव घर जाने लायक नहीं रह गया था। लड़ैता की सिर्फ एक सेर हल्दी कुल और पाव-भर पियाज़, दो गांठ हरजोर और चार बोतल महुआ की शराब, इतना ही खर्च हुआ था। मुकदमा चला ही नहीं। लाठी के ज़ोर से लड़ैता के पुत्रों ने खेत पर कब्जा कायम रखा और अन्त में उनके नाम खुकास्त हो गया।

चरवाहे जब चिलम पी चुके, तो पूरन बाबा खीस निपोरकर बोले— "एक किस्सा सुनो, किस्सा!"

चरवाहे प्रसन्नता से पास खिसककर बैठ गये। कोई पूरन बाबा के पैर दबाने लगा, कोई उनके सिर से ढील-जूं हेरने लगा और कोई हथेली पर मल-मलकर बाबा के लिए खैनी बनाने लगा।

"हां, तो चिबिल्लई मति करो, ठीक सेंती सुनो! एक राजा रहा। वह बहुत बीमार रहत रहै, सज्जी देह पियराय गै रहा।"

लड़के बीच ही में बोल उठे—"लड़ैता के बुढ़ऊ, लंगड़-भचंगड़ की नाईं?"

"हां-हां, वैसे समझो! मुला बीच मां पिकिर-पिकिर मति बोलौ, नाहीं तो एक-एक कै अब्बै मुरगा बनाय देव, हां! ..... तो सुनो! रजवा बीमार रहा। रनियवां बहुत अच्छी रही, खूब तग्गड़ और सुन्नर! बड़े-बड़े देवता लोग रनियवां के देखिकै ललचाय जायं। यहि तरीके से रनियवां के पांच लड़िके भइन, एक-से-एक बीर, जोधा, सुन्दर-सुन्दर! इनही कै नाम रहा, पांच पण्डवा। इन पण्डवन कै बियाह भै दुरपती से!"

"एक औरत से पांचौ के बियाह?"— लड़कों ने बड़े आश्चर्य से बाबा से प्रश्न किया।

बाबा उत्तर देनें के पहले बड़े मुदित मन से ही-ही, ही-ही हंसते रहे। उसी समय लड़ैता का कर्कश स्वर सुनाई दिया—"मार तो दहिजरा के पूतन कै! गड़ही जनौ इनके बाप कै है कि दिन-रात अहं मां भइंस हल्लाये बैठा रहथिन!"

लड़के अब भागकर कहां जायं! सबके-सब पूरन बाबा के पांव पकड़कर दीन भाव से वहीं बैठे रह गये।

बाबा ने मेहराये स्वर में कहा— "का हो, कुन्ता भौजी? कब्बो तो हंस कै बोला करो!"

"कुन्ता होइहैं तुहार बहिन-महतारी! मरै कै जोआ आइगै, मुला मेहरई नांय गै तुहार!"— लड़ैता का ध्यान लड़कों से हट गया।

पूरन बाबा पोपले मुंह से हंसने लगे।

उधर लड़के मौका पाते ही भाग निकले और दूर जाकर फिर तालियां पीट-पीट कर कहने लगे—"लड़ैता बोलै, टिर्ररSSS! लड़ैता बोलै, **टिर्ररSSSरSSS!**"

लड़ैता ने लड़कों पर ध्यान न दिया। वे बकबकाते रह गये। वह बड़े दुःख और क्रोध से बोली– "का हो, नास भै? लाज नहीं आवत तुहंका? ई करनी न होत तो मुहें-हाथे हरदी ना लागत? जिन्दगी लुहेड़ई मा बीति गै, मुला मेहरी कै मुंह देखैके बदा न भै। तोहीं पचन ई गांव लै **डुबायौ!**"

बेहया, बहादुर पूरन बाबा हंसते रहे, और लड़ैता बड़े दुःख से बुरा-भला कहती रही। डांटते-डांटते कहीं उसकी आंखों में आंसू भी उमड़ आये।

बात यह थी कि वह महुआडाबर गांव बड़ा ही बदनाम था। बहुत बड़ा गांव न था, यही पचास घर का पुरवा समझिए, दो-एक घर लाला, दसेक घर ठाकुर, बीसेक घर कुरमी, चार घर धरकार, पांच घर भर-पासी, शेष चमार, कहार और नाऊ। यह गांव अपनी हरकतों और सुकर्मों अथवा कुकर्मों से इतना बदनाम था कि मुख्यतः ठाकुर और कुर्मियों के घर के लड़कों की शादी न होती थी। और लोग ऊंचे-खाले शादी कर भी लेते थे, पर ठाकुर और कुर्मी के लड़के राह देखते ही रह जाते थे। लड़की वाले बात चलाते ही कहने लगते थे, अरे, महुआडाबर में अपनी लड़की कौन डुबाये? सभी तो चमाइन-सूदिन रखते हैं। कुर्मी लोग छबियहवा कर लेते हैं, दूसरे के घर की लड़की लाठी के ज़ोर से जरूर बिदा करा लाते हैं, पर अपनी लड़की का गौना ही नहीं देना जानते। लठैत, नंगई करने वाले, आस-पास के गांवों से हमेशा दुश्मनी और तनातनी! किसी की हरी फ़सल काटकर गिरा देंगे, तो किसी का पानी रोक-काट देंगे। किसी का मेड़ जोत लेंगे, तो किसी का दिया-लिया गप्प कर लेंगे। न कथा, न भागवत, न तीरथ, न व्रत। हां, नाच-बाजे में ज़रूर मन लगेगा। अखाड़े में कुश्ती और दिन-रात आल्हा-फगुआ, चैती-बारहमासा, कबड्डी और फरी-गतका! हर बात में केवल गुस्सा और फ़ौजदारी, फिर मुकदमेबाज़ी। तन पर ठीक से कपड़ा न रहेगा, पर कन्धे पर लाठी ज़रूर रहेगी दस सेर की। पांव में कभी जूते न अटेंगे, पर दरोगा जी को घूस देने के लिए रुपये ज़रूर अटेंगे। घी-दूध बेचकर गांजा-सुरती ज़रूर खायेंगे, पर बात क्या कि औरत के लिए साल में दो

धोती के अलावा कुछ और खरीद कर कभी दें। बच्चों के संग गुड़मुड़ाकर अलाव के सहारे सारा जाड़ा काट देंगे, पर एक अच्छी-सी रजाई के लिए उन्हें जैसे कभी नहीं अटेगा। बच्चों को स्कूल न भेज कर उनसे भैंस-गोरू चरवायेंगे और मार-गाली की जन्मजात शिक्षा देंगे।

फिर क्या इज़्ज़त होगी ऐसे गांव की! कौन ब्याह-शादी के लिए ऐसे गांव को पूछेगा? लड़ैता अइया आंखों में आंसू भरे हुए पूरन बाबा के सामने अपने गांव के रंडुओं का चित्र खींचने लगी। पूरन बाबा की शादी न हुई, उनकी विधवा बहन अपने दो लड़कों के साथ है। उन लड़कों की भी शादी न हुई। कउआ सिंह और गादुर सिंह दो भाई हैं। कउआ सिंह के पिता ने ढाई सौ रुपये में उसकी शादी की थी। उसी से सात लड़के हैं। अब सातों जवान रंडुए हैं। दिन-रात आपस में लड़ते रहते हैं और जुल्फी झारकर इधर-उधर घास छीलते हैं और बांसुरी बजाते हैं, ढोल चटकाते हैं। देवी भगत के तीन लड़के हैं, बहुत अच्छे लड़के हैं, सीधे और मेहनती, किसी से राड़-झगड़ा नहीं, गऊ-जैसे भले, परन्तु इन रंडुओं की पट्टी में इन्हें भी कोई पूछने वाला नहीं। न इतना रुपया अटे कि लड़की वालों की टेंट गरम हो, और इनकी शादी हो। चइत्तर के पास रुपये हैं, सो, पांच-पांच सौ रुपये खर्च करके उन्होंने अपने दोनों लड़कों की शादी की। पुरई के पास खेत हैं, चार बीघे खेत देकर उन्होंने भी अभी दो लड़कों के हाथ पीलें किये हैं।

सो, इन रंडुओं के गांव का कोई क्या हाल कहे! किसकी क्या-क्या रोये? लड़ैता स्वयं कहां से इस गांव में आ बसी? क्यों इस गांव में ब्याही गयी? उसके पांच पुत्र रामलाल, फलई, बहोरी, सुखई और दुखई। रामलाल सोलह वर्ष का होकर बिना ब्याहा ही मर गया। फलई बुटवल में हांडे के सेठ की दुकान में काम करता था। चालीस रुपये महीना और खुराक पाता था। उसी कमाई में से किसी तरह काट-छांट करके लड़ैता को पैंतीस रुपये महीने भेजता था। लड़ैता ने साढ़े पांच सौ रुपये इकट्ठा कर फलई की शादी दुरपती से की थी कन्हईपुर में।

दुरपती चौके की रांड़ थी, गौना नहीं हुआ था, तभी उसके

अनदेखे पति का स्वर्गवास हो गया था। दुरपती की अवस्था अठारह साल से अधिक न थी, जब वह डोली पर चढ़कर महुआडाबर आयी और फलई-बहू हो गयी। दुरपती का रंग सांवला था, पर आंखें खूब बड़ी-बड़ी थीं, बिहंसती हुई। कसा बदन, खूब हृष्ट-पुष्ट श्रम से सुगठित व्यक्तित्व। साधारण चूड़ियां उसकी कलाई में नहीं जाती थीं। जिसका हाथ पकड़ ले, छुड़ाना मुश्किल। खूब ढोल बजाती थी। कबीर और फाग गाने में उसका कोई सानी न था। बदमाश-से-बदमाश, बिगड़ी हुई भैंस-गाय का दूध वह दुह लेती थी, उसे ठीक कर लेती थी। एक घण्टे में नेसुहे पर बैठकर चार बैल और दो भैंसों के लिए चारा काट फेंकती थी। पति के संग खेत में कुदार चलाना, हेंगा चढ़ना, ईख काटना, कोल्हू पेरना उसके लिए अत्यन्त सहज था। साथ ही हंसमुख, सामने से कोई भला बचके जा सकता था, जिससे वह मुंहबोली न कर ले और उसे हंसाकर न छोड़े। गज़ब की थी दुरपती, सुहृद, मीठी, अदम्य प्राणशक्ति वाली, रागों एवं श्रमवाली।

जवार-गांव के लोग कहते थे कि लड़ैता को एक पूत और मिल गया, बहू के रूप में। चौका-बर्तन से लेकर खेती-बारी, गोरू-बछरू, बूढ़े-बूढ़ी की सेवा, पति और देवरों के सिर-पैर दाबने तक उसकी बांहें बढ़ी रहती थीं।

लड़ैता ने सोचा था कि बड़े लड़के की शादी के बाद शेष तीनों लड़कों के विवाह का रास्ता स्वभावतः खुल जायगा। पर ऐसा सम्भव न हुआ। कोई वर ढूंढनेवाला इस रास्ते से गुज़रा ही नहीं। लड़ैता स्वाती की बूंद के लिए आकाश देखती रह गयी। बहुत दान-पुण्य किया। शंकर जी की बड़ी पूजा की। तीनों लड़कों से नियमानुसार शिवरात्रि व्रत का अखण्ड पालन कराकर हार गयी। यहां तक कि इधर-उधर दो-ढाई सौ रुपये दांव पर भी लगा आयी, पर कुछ भी हाथ न लगा। एक बार तो ऐसा हुआ कि कोई ठग बरदेखवा के रूप में लड़ैता के घर सात दिनों तक टिका रहा। खूब खाया-पिया, बड़ी-बड़ी सेवाएं लीं और चलते समय सवा सौ रुपये लेकर आज तक न लौटा।

फिर भी लड़ैता कभी हार नहीं मानती थी। जैसे वह दिन-रात

इसी आस में जीती थी कि उसके शेष तीनों लड़कों की शादी किसी-न-किसी दिन, कैसे भी हो, ज़रूर होगी, ज़रूर होगी। टोटका-तावीज़ तो हरदम किया करती थी। कोई भी भिखमंगा उसके दरवाज़े से निराश नहीं लौटता था। लड़ैता भिखमंगे की झोली में आटा-चावल-दाल डालती हुई बड़े स्निग्ध स्वर में कहती थी—"हे गोसाईं, आसीस देव, बाबा! पहाड़ जैसन पूतन कै कहीं गांठ जुड़े! कौनो जुगुत लगौ तो, बाबा! देस-देस कै भौंरा हो, बाबा तू तो! हमारे घर में कौनो चीज के तरसै के नाहीं है। दूध-धन-धरम सबसे परिपूरन है, बस एकै कमी है!"— कहते-कहते लड़ैता बरसती आंखों के बीच भरे कण्ठ से कह उठती :

ऊसर गोड़ि-गोड़ि बोउलूं ककरवा
नहिं जानूं तीत न मीठ
नगर गांव बेटी तोर वर हेरूं
ना जानूं करम तोहार
का करै नउवा, रे, का करै बरिया
का करै बभना कै पूत
हमरे करमुवा मां एहि लिखा मैया रे
सो कइसे मिटि जाय...

लड़ैता बैठी-बैठी वहीं जैसे खो जाती और भिखारी डण्ड-करताल बजाता हुआ तब तक दूसरे दरवाज़े पर जा पहुंचता।

एक बार लड़ैता के दरवाजे पर कोई गुदना गोदने वाली आयी। उससे पता चला कि मटिहारी गांव में एक बहरी लड़की है, जिसके पति ने उसे छोड़ दिया है। लड़ैता गुदना गोदने वाली के संग स्वयं उस गांव गयी। दो दिनों तक वहां टिकी रह गयी एक बाम्हन के घर, और वहीं से बहरी के मां-बाप से मुंह-बात लेती रही। आधी सफलता के साथ तीसरे दिन लड़ैता जब अपने गांव लौटी, उसके घर रोना-पीटना पड़ा था। दुरपती पछाड़ खा-खाकर रो रही थी। फलई टांडे से गांव लौट रहा था। सरजू नदी पार उतरते समय, बीच धारा में नाव डूब गयी

और उसी में फलई लापता हो गया था। उसकी लाश तक न मिल सकी। लड़ैता अपनी दुरपती को अंक में बांधे हुए उसके संग कई दिन तक रोती रही और अपने कलेजे पर तवा रख कर बहू को दिन-रात समझाती रही।

दुरपती बहुत रोयी-कलपी। छाती-पीटती रही। पर लड़ैता ने उसकी चूड़ियां न फूटने दीं, न उसका माथ ही पुंछने दिया। उधर फलई का क्रिया-कर्म चलता रहा, इधर लड़ैता बहू को समझाती रही कि मरद के पीठ का देवर आधा मरद भगवान् के यहां से ही होता है और मरद के मरने पर वही उसका मरद हो जाता है।

सवा महीने बाद लड़ैता एक दिन सुबह अपने पुरोहित, शीतला पण्डित को पोथी-पत्रा सहित बुला लायी। शीतला पण्डित ने उसके आंगन में पूजा-पाठ करने के उपरान्त संस्कृत में एक उपदेश दिया और दुरपती ने कुछ नहीं कहा। लड़ैता ने तीन पीली धोतियां मंगा रखी थीं, एक पण्डित के लिए, एक अपने बेटे बहोरी के लिए और तीसरी दुरपती के लिए।

लड़ैता ने अपने हाथ से बहू के हाथ में नयी चूड़ियां पहनायीं, उसकी मांग में सिन्दूर भरा, माथे पर बहराइच के मेले की सुहाग-बिन्दी और टांडे की टिकुली लगायी, अंग-अंग में आभूषण पहनाये। बहोरी ने पहलवान-कट लम्बा कुर्ता और सिर पर साफा बांध रक्खा था। मुंह में सुबह से पान दबाये था। दुरपती और बहोरी ने एक साथ शीतला पंडित के पांव छुए और दोनों अकस्मात् एक-दूसरे के सामने लजा गये।

उस रात लड़ैता के घर में सत्यनारायन की कथा हुई। पौनी-परजा को भोजन कराया गया। बहुत रात तक गांव में और विशेषकर लड़ैता के दरवाज़े पर चहल-पहल रही। सोने के पहले दुरपती सास के पैर छूने गयी। लड़ैता आंचल उठाकर आशीष देने लगी— "खूब फूलो-फलो! दूधन नहाव, पूतन फलो! नया धरो, पुरातन खाव! गंगा माई, ठाकुर बाबा नीके राखें!"— फिर उसने बहू से बहुत धीरे से कहा— "बहोरी बैठकवा मां अकेल सोवत बाय, बहुक पैर छुइ आव। सुभ खातिर कुछ मूड़ तेल....."

दूसरे दिन से दुरपती बहोरी-बहू कहलाने लगी। वह पहले-जैसा जीवन, वही उल्लास, वही काम-धाम, खेती-बारी। लड़ैता के घर में, गारी-मार, लड़ना-झगड़ना एक सनातन धर्म हो गया था। भाई लोग मां-बहिन सहित वृद्ध पिता को उसमें सानकर खाली समय में आपस में ज़रा-सी बात पर लड़ना शुरू करते थे, फिर गालियों के बीच उसे फौजदारी की सीमा पर पहुंचा देते थे, और दूसरे दिन काम आते ही सब लोग मिल-जुल कर खेती-बारी में लग जाते थे, जैसे कल उनमें कुछ हुआ ही न हो। लेकिन जब से दुरपती बहोरी-बहू हुई है, उस घर में जैसे कहीं से कुछ और भी विष बो उठा हो। अब उस तरह से खुलकर झगड़ा नहीं होता था, बल्कि वहां धीरे-धीरे वैमनस्य की खामोशी दीखने लगी थी। तीनों भाई लोग अब एक संग चौके में बैठकर भोजन भी नहीं करते थे, न एक संग फाग गाते थे, न एक संग किसी बैठक में रुकते थे। जैसे उनमें कोई भयानक चोर घुस आया हो, जिसे न वे पकड़ ही पाते थे, न उससे लड़ ही सकते थे—बस, वे जैसे उसके धुएं में, भाप में जलने लगे थे।

सबसे विशेष परिवर्तन यह हुआ था कि लड़ैता स्वयं दुरपती से ईर्ष्या रखने लगी थी और उनमें भी गाली-झगड़ा होने लगा।

एक ही वर्ष बाद दुरपती को लड़की हुई। लड़ैता फूली न समायी। जितना सोहर पुत्र होने पर नहीं गाया जाता, उससे कहीं अधिक लड़की के जन्म पर गाया गया। उसका नाम रखा गया, सुभावती। बहोरी बस्ती मील पर ऊख-भरी गाड़ी लेकर गया था, वहीं यह नाम उसे मिला था। कांटे पर तैनात जमादार की लड़की का यही नाम था। सुभावती एक साल की भी न हुई कि लड़ैता अपने मन में संकल्प करने लगी कि नतिनी की कहीं शादी की जाय, अदले-बदले में, यानी सुभावती के बदले में उस घर से सुखई या दुखई की शादी हो जाय। लेकिन कानों-कान जब यह बात दुरपती को सुनायी दी, तो उसे अच्छा न लगा। उसने सुभावती के काका से शिकायत की। फिर क्या कहने, खूब झगड़ा ठना उस घर में। एक ओर बहोरी और दुरपती तथा दूसरी ओर शेष सब। सुखई ने बड़ा भयंकर रूप दिखाया और उसके पीछे लड़ैता खूब आग लगाती रही कि बहोरिया मेहरा हो गया है! दिन-भर

दुआरे पर बैठा रहता है! खेती-बारी के काम से जी चुराता है। घर-घुसना कहीं का! यह झगड़ा अनेक रूपों में कई दिनों तक उस घर में होता रहा। बहोरी ने यहां तक कह दिया कि वह सुभावती की काकी को लेकर उस घर से अलग हो जायगा। यह बिल्कुल नयी बात थी उस घर के लिए। ऐसा किसी ने कभी सोचा तक न था। लड़ैता चण्डी की तरह बहोरी पर टूट पड़ी— "उस मुंहजरे ने यह अलग होने की बात कैसे मुंह से निकाली? उसकी यह हिम्मत!"

बहोरी अपने निर्णय पर अविचल था। उसने कई दिनों से खाना-पीना छोड़ दिया था, बाहर बैठकर केवल चबैना से काम चला लिया करता था। गांव में पंचायत बैठी। लड़ैता ने बहोरी और दुरपती को सबके सामने खड़ा किया। पंचों ने दुरपती से पूछा कि आखिर वह क्या चाहती है। दुरपती ने एक बार बहोरी की ओर देखा और कई बार अपनी सास और देवरों की ओर। फिर सिर झुकाकर उसने भरे कण्ठ से कहा कि, वह घर से अलग नहीं होना चाहती।

बहोरी दुरपती के मुंह से यह सुनते ही वहां से उठा और खलिहान की ओर बढ़ गया। वह कई दिनों तक घर न लौटा। पर दूसरी ओर सारा घर शान्ति से अपना काम कर रहा था, जैसे वहां कुछ हुआ ही न हो।

लड़ैता बहू से कहती थी कि बहोरिया जायगा कहां? झख मार के घर लौटेगा ही। चार-छः दिन बात-बात में मुंह झौंसाय के आयगा ही।

सच, पांचवें दिन संध्या समय बहोरी जैसे हारा-थका घर लौटा। बदन पर वही एक बनियान और कान बंधा अंगोछा और माघ के दिन, सुरसुराकर बहता हुआ पछियांव, कलेजे को थरथराता हुआ।

बहोरी अपने दरवाजे पर न गया। पूरन बाबा की मड़ई में कौड़ा जल रहा था। बहोरी राम-जुहार करके वहीं बैठ गया। चिलम पी। धीरे-धीरे गांव के लुहेड़े वहां इकट्ठा होने लगे, पूरन बाबा का दरवाज़ा जो ठहरा। इधर-उधर से मज़ाक और हंसोड़ी शुरू हुई। कहीं ही-ही के बीच, कहीं ठी-ठी के बीच।

कोई कहने लगा कि, सुभावती कै माई सुखई के संग बजार गयी

थी। खूब पान खाये थी। किसी ने बताया कि, लड़ैता सुभावती का अदला-बदला सुखरामपुर में तै करने वाली है।

पूरन बाबा ने गाल बजाते हुए कहा कि तब से लड़ैता सुबह-शाम दुरपती से खूब तेल-बुकवा कराती है। कितनी मोटी हो रही है लड़ैता!

उसी बीच हरहराती हुई लड़ैता वहां आ पहुंची, और जितने लोग बहोरी को घेरकर वहां बैठे थे, उसने किसी एक को भी न छोड़ा। सबकी करनी-भरनी वह एक ओर से उतारने लगी, किसके घर में क्या पकता है, वहां से लेकर सात पीढ़ी तक की चर्चा, सब उसकी ज़बान पर है। बैठे हुए लोग अगल-बगल झांकने लगे और इधर-उधर खिसक पड़े।

लड़ैता तब अलाव के पास बैठ गयी और बहोरी से हाथ नचा-नचाकर पूछने लगी कि वह अब क्या चाहता है। बहोरी चुप था, जैसे वह हार मानकर लौटा हो। लड़ैता ने उसका हाथ पकड़कर उठा लिया और उसे अपने संग लिये हुए वह घर चल पड़ी।

बहोरी मां के संग जब दरवाज़े पर पहुंचा, उसने ओसार के अलाव के किनारे देखा, दुरपती चिलम चढ़ाकर उसे हुक्के पर रखती हुई सुखई के हाथ में दे रही है, और सुभावती दुखई की गोद में खेल रही है।

हाथ-पैर धोने के लिए दुरपती ने बहोरी को एक लोटा पानी दिया। बहोरी ने उसे हाथ से मारकर नीचे गिरा दिया और स्वयं कुएं पर जाकर हाथ-मुंह धोने लगा। इसके उपरान्त वह सीधे चौके में गया, और बिना कुछ बोले-मांगे जो मिला उसे खाकर लौट आया।

हुक्का चढ़ाकर दुरपती उसके पास आयी और उसे हुक्का थमाने लगी, तो उसने क्रोध से हुक्के के संग उसके हाथ पर इतनी जोर से झटका दिया कि हुक्का, चिलम— सब चकनाचूर हो गया। दुरपती के हाथ की सारी चूड़ियां टूट गयीं और इधर-उधर चूड़ियों के घाव से खून निकल आया। दुरपती ने कुछ न कहा। वह सन्तोष कर गयी कि उसका क्रोध वह न सहेगी तो और कौन सहेगा? औरत धरती की तरह सहने के ही लिए तो बनी है, और क्या काम है उसका!

रात को न जाने किस बात पर बहोरी ने दुरपती पर हाथ छोड़ दिया। लड़ैता को यह बात बहुत असह्य लगी, उसने वहीं से गुहार मचायी—"दौड़ो-दौड़ो! बहोरिया जान लै लेई दुलहनियां कै!"

यह सुनते ही सुखई और दुखई बहोरी पर टूट पड़े। लड़ैता ने बहू को अपने अंक से लगा लिया, और उसी की सांसों में जैसे स्वयं रोने लगी। तीनों भाइयों में खूब कुश्ती हुई, मुक्का-मुक्की, थप्पड़-गाली।

दुखई था सबसे छोटा, पर देह-दशा में सबसे बढ़-चढ़के। वह अब तक नियम से दंड-बैठक करता और नित्य अखाड़े में ज़ोर करता। छोटा होने के नाते वह सबका दुलारा भी था। और असल बात यह थी कि वह स्वभाव से भी सबसे भिन्न था, गम्भीर, सन्तोषी, शान्तिप्रिय और बहुत अच्छे विचार और कर्म का। देखने में भी वह सबसे अधिक सुन्दर और असली ठाकुर-जैसा लगता था। गुस्सा बहुत कम आता था उसे, पर जब उस पर गुस्सा चढ़ जाता था, तब वह भूत हो जाता था।

बहोरी ने जब सुखई को उठाकर पटक दिया और उसके सीने पर खड़े होकर उसे मां-बहन की गालियां देनी शुरू कीं, तब दुखई को क्रोध आ गया। एक ही हाथ में उसने बहोरी को ऐसा चपेट मारा कि वह चारों खाने चित।

रात-भर गाली और बात बढ़ती रही। पास-पड़ोस के भी लोग न सो पाये। पर किसी की हिम्मत क्या कि उस झगड़े में बीच-बचाव करने आये, और उसकी सात पीढ़ी न्योती जायं!

सुबह बहोरी ने फिर एकाएक ज़ोर बांधा। उसने खुले शब्दों में कहा कि उसकी औरत को दुखई और सुखई ने अपने कब्जे में कर लिया है। दोनों की नीयत खराब है सुभावती की काकी पर। वह एक में एक क्षण भी नहीं रहना चाहता। वह किसी भी तरह अपनी औरत को लेकर उनसे अलग हो जाना चाहेगा, चाहे डांड़े पर मड़ई छाकर उसे क्यों न रहना पड़े। गांव वालों नें जब उसकी न सुनी, पास-पड़ोस के भइया-बाबू ने उसे सहारा नहीं दिया, तब वह सीधे थाने गया। पुलिस कप्तान के यहां भी गया। कप्तान साहब के माली से बहोरी ने सब कह सुनाया। उनके धोबी के घर उसने एक घड़ा ऊख का रस पहुंचाया। वे लोग कप्तान साहब से बहोरी का दुख ज़रूर कहेंगे, और दुखई-सुखई

को जरूर गिरफ्तार होना पड़ेगा। यह कोई मामूली बात थोड़े ही है! बड़ा संगीन मामला है।

बहोरी पर जैसे सनक सवार हो गयी। वह दिन-रात इधर-उधर भटकता फिरता। कभी पंचों के पास, कभी पुलिस-थाने, कभी कप्तान साहब के बंगले, कहीं शिव के मन्दिर पर, कहीं ओझा-माली के पास, कहीं साधू-फ़कीर की कुटिया पर। पांच रुपये खर्च करके उसने दुरपती पर एक औघड़ के हाथ वशीकरण मन्त्र भी फुंकवाया। दरगाह के मेले में जाकर उसने मुर्गी का अण्डा भी कटवाया। पर वही कहीं से भी सफल न हुआ। खाना-पीना, आराम, सब जैसे भूल गया। उसकी भूख और नींद दोनों हराम हो गयी थीं। बस, वह दिन-रात हाय-हाय किया करता था। इस तरह छः ही महीने में बहोरी सूखकर कांटा हो गया। घर लौटता था, तो घर के लोग उसे डांटते थे, गांव के लुहेड़े उसे मजनूं कहकर हंसते थे। लौण्डे उसे चिढ़ाते थे— "काका, गुड़-रोटी खाओ! काकी तेल लैके खाड़ी बाय!"

गर्मी के दिन थे। पड़ोस के नरसिंहापार गांव में बड़े ज़ोरों का हैज़ा पड़ा था। वहां दो बहुत नामी ओझा-सोखा आये थे। ठीक दुपहरिया में बहोरी उनसे मिलने नरसिंहापार गया। रात को वहीं रुक भी गया। सुबह ही उस ग़रीब को उल्टी हुई। वह डर से अपने गांव की ओर भागा। उसे लगा कि उसकी दुरपती और सुभावती बेटी, दोनों उसे रो-रोकर पुकार रही हैं। बहोरी के दोनों पवन चल रहे थे, फिर भी वह घिसटता हुआ किसी तरह अपने दरवाज़े तक पहुंचा और बेसुध होकर केवल दुरपती का नाम लेने लगा।

गांव के लोग घबड़ा गये कि बहोरी नरसिंहापार से हैज़ा लेकर आया है। लड़ैता उसे ताने-बोली सुनाकर काली माई की शरण गयी। दुरपती को काटो तो खून नहीं। वह देवतन बाबा के कमरे में जाकर भरे कण्ठ से बोली— "हे देवतन बाबा ! मोर उमिरि सुभावती के काका कै दै देव! उसका बचाय लेउ, दइउ!"

पर बहोरी न बच सका।

वह सांझ होते-होते ही चल बसा।

बहोरी को नदी में फेंककर जैसे ही लोग घर पहुंचे, सुखई को भी कै-दस्त शुरू। सुखई ने बहोरी की, कुछ ही घण्टे सही, पर बड़ी सेवा की थी, कभी गोद में, कभी कन्धे पर, कभी खाट पर, हर स्थिति में दम तोड़ते हुए भाई की अन्तिम सेवा की।

दूसरे ही दिन सुखई ने भी आंखें मूंद लीं।

और अगले दिन लड़ैता के बुढ़ऊ भगत भी उसी रास्ते चल बसे। लोग भयभीत खड़े देखते रह गये। लड़ैता शेष परिवार को संग लिये उस घर से बाहर निकलने लगी।

लेकिन दुरपती पर जैसे वैराग्य छा गया। वह घर में बैठी रह गयी। क्या होगा घर छोड़ कर? अब भी जीने का इतना मोह? वह कहीं नहीं जायेगी! अब इससे अधिक क्या हो सकता है?

और सच, इससे अधिक कुछ नहीं हुआ। जैसे वह महामारी लड़ैता के ही घर के लिए आयी थी, और उसे बेतरह लूटकर चली गयी। शेष गांव में न पात हिला, न कोई डार टूटी। धार-तपावन दे-देकर गांव सुरक्षित रहा। महामाई आयीं और अपना परसाद लेकर बिदा हो गयीं।

लड़ैता के घर के पिछवारे और गड़ही तक जो घनी बंसवारी फैली थी, अब उसमें बनमुर्गियों का सदा पड़ाव रहता है। पहले बंसवारी इतनी घनी न थी, इसलिए एक ही बनमुर्गी का जोड़ा रहता था। ईदूपुर का चिड़ीमार बड़ा जालिम था। बनमुर्गी के बच्चे जैसे ही बंसवारी से गड़ही तक आने लायक होते थे, वह एक दिन चुपचाप अपना लासा-फन्दा लेकर आता और सारे बच्चों को फंसाकर झोली में छुपाये चम्पत हो जाता था। और गरीब बनमुर्गियां महीनों अपने बच्चों के लिए बंसवारी में छुपी हुई रोती रहती थीं। गांव के लौंडे उन्हें कोयल के वजन पर खूब चिढ़ाते थे, पर वह चिढ़ती नहीं थीं। बाहर के बजाय भीतर रोने लगती थीं।

अब जब से लड़ैता का घर सत्यानास हो गया, उसके सांड़ जैसे बेटे न रहे, उसके बुढ़ऊ न रहे, वह कभी भी बंसवारी की मुर्गियों का रुदन नहीं सुन सकती। ईदूपुर के चिड़ीमार को दुखई ने कई बार ललकारकर खदेड़ दिया। गांव-भर की कड़ी आज्ञा है कि वन-मुर्गियों का शिकार कोई नहीं कर सकता।

इस तरह लड़ैता की बंसवारी में अब शेष बनमुर्गियां अपने बच्चों-सहित सुरक्षित हैं।

लड़ैता ने एक ही संग बहोरी, सुखई और भगत की बरखी कर डाली। फिर दुरपती और दुखई के संग अयोध्या जी, चैत रामनवमी के मेले गयी। वहां भगत के गुरुद्वारे में टिकी। गुरुबाबा के पैर छानकर बड़ी देर तक रोती रही। सभी कथा उसने गुरुबाबा से कह सुनायी।

अयोध्या जी से चलते समय, गुरुबाबा ने दुखई का हाथ देखा। बताया कि उसका विवाह बहुत ही शीघ्र होने वाला है। तीन पुत्रों का योग है उसके भाग्य में। स्त्री बहुत तन्दुरुस्त, गम्भीर और कामकाजी मिलेगी, बड़ी-बड़ी आंखें होंगी उसकी! सांवला रंग, पर बहुत सुन्दर मुखड़ा.....

जैसे-जैसे गुरुबाबा दुखई का हाथ देखकर भाग्य-रेखा बता रहे थे, वैसे-वैसे दुरपती का कलेजा थरथरा रहा था, जैसे कोई आरे से उसे दो फाल में चीर रहा हो!

अयोध्या से महुआडाबर तक, बीस कोस की पैदल यात्रा-भर में दुरपती बंसवारी की बनमुर्गी की तरह चुपचाप अपने भीतर रोती रही, बाहर जैसे गुरुबाबा का स्वर उसे चिढ़ा रहा था। रास्ते-भर जहां-जहां, जब-जब औरतें गाती हुई उसके सामने पड़ती थीं, या सुनायी देती थीं, तब-तब दुरपती के सारे असंख्य गीत उसे बिच्छी के डंक की तरह विष-दंश करते रहते थे, और वह तिलमिलाकर रह जाती थी।

घर लौटने के तीसरे ही दिन लड़ैता शीतला पण्डित को बुला ले आयी। पुरोहित ने वही सनातन कथा प्रारम्भ की। दुरपती दौड़कर पण्डित जी के पैरों पर जा गिरी— "मुझे यह कथा अब न सुनाओ, पण्डित!"

यह कहकर वह रोने लगी। पुरोहित वापस चले गये।

पर दुखई इस बात को मन-ही-मन में बहुत बुरा मान गया। वह

दुरपती भौजी से अपने को छुपाने लगा, जैसे वह उससे अपमानित हुआ हो।

दुरपती जब उसे खाना परोसती और उससे कुछ बात करना चाहती, तब दुखई झटपट आधा-तीहा खाकर वहां से भाग निकलता, और उदास खेत के मचान पर जा बैठता।

दुरपती देख रही थी, दुखई पहले उससे रूठा था, फिर उससे उदास हो गया और अब वह अनुभव करने लगी कि इसका प्रभाव अब दुखई को कहीं से तोड़ने लगा था। अब दुखई ने अखाड़े में जाना छोड़ दिया था। कसरत भी नहीं करता वह। दूध भी नहीं पीता। सिर पर तेल नहीं लगाता, और बहुत ही कम सामने आता है।

अषाढ़ का पहला पानी बरसा, खूब बरसता रहा। किसान लोग उल्लसित हल-बैल लेकर खेतों में जा रहे थे। लेकिन दुखई अंगोछे से मुंह ढंके बैठक में सोया पड़ा था। लड़ैता उसे जगाकर हार गई थी।

अन्त में दबे पांव दुरपती उसके पास गयी। सिर से पांव तक उसने दुखई को देखा और फफककर उसके पांवों पर गिर पड़ी।

दुखई जाग रहा था।

उसने दुरपती को अपने पांवों पर से उठाना चाहा।

दुरपती ने आर्त्त स्वर में कहा– "मेरा स्थान यही है, यहीं मुझे शरण दो! मैं नागिन हूं, देवर! मैं जिसे ब्याही जाती हूं उसे ही डंस लेती हूं। मैं तुम्हें नहीं डंसना चाहती! मैं चाहती हूं तुम..... अमर रहो!..... तुम....." कहते-कहते दुरपती ने दुखई के सिर को अपने अंक में गड़ा लिया, और फिर उसकी आंखों में देखकर बोली– "तुम्हीं तो इस घर में, इस गांव में, मेरे जीवन में सबसे सुन्दर थे, सबसें अच्छे थे!"

(१९५७)

बन्द कमरा

"कमरे की दूसरी चाभी कहां है?"

"मुझे नहीं पता!"

"बड़ी बहू से पूछो!"

"वह सो रही है।"

"मझली बहू, तुझे पता है?"

"सेफ की चाभियों के गुच्छे में तो थी।"

मझली बहू ने पान का बीड़ा खाया। पूरे घर में कमरे की वह दूसरी चाभी तलाशी जा रही थी। छोटी बहू ने शरारत से कहा– "कोई चोर तो नहीं उठा ले गया?"

तब तक ससुर साहब की आवाज आई– "बड़ी बहू, बहू!"

इन्दु जी के मुंह से फूटा– "हां जी!"

पर उसी क्षण घबराकर उन्होंने अपना मुंह पकड़ लिया। पांव जैसे बाहर की बैठक से भीतर घर में दौड़े थे, उस गति को भी लड़कर रोक लिया। अब वह इस घर की बड़ी बहू कहां? बड़ी बहू तो अब तक सो रही है अपने कमरे में!

"बड़ी बहू!"

इन्दु जी चुप, अकेली खड़ी रह गईं। उन के कानों में ससुर जी की पुकार, आवाजें टकरा रही हैं। वह बड़ी बहू हैं और नहीं भी। वह

इन्दु भी नहीं है। और इन्दु जी भी नहीं। वह अब श्रीमती इन्दु प्रसाद हैं। इसी घर में आठ साल पूर्व वह कुछ ही दिनों के लिए श्रीमती इन्दु लाल थीं। हां, कुछ ही दिनों के लिए।

आज की बड़ी बहू तब मझली बहू थी। उसी ने तब कहा था– "तो क्या हुआ बड़ी जीजी, अभी तो आप की पूरी... ससुर जी ठीक कहते हैं....."

इन्दु जी के माथे पर पसीना छलछला आया। तभी उन्होंने सुना, बड़ी बहू जग गई हैं और ससुर जी आंगन में खड़े हुए कुछ कह रहे हैं। पूरी बात तो नहीं, बातों के टुकड़े हवा के साथ इधर बहते हुए आ जाते हैं– "बहू आई है...तुम लोग..., अब तक.... उसके पास नहीं..... कहां है.... आई है..... जाओ तो... देखो... कमरा....."

एक-एक कर तीनों बहुए इन्दुजी के चारों ओर घिर आईं। चार, पांच... अब.... छह बच्चे भी। पता नहीं क्यों, आज सिर्फ मझली ने पैर छू कर प्रणाम किया है, बड़ी और छोटी ने सिर्फ हाथ जोड़ कर। इन्दु जी के अंक में शोनू और निनी बड़े मजे से बैठ गए थे। सारे बच्चे इन्दु जी को बड़ी मां कहते थे। सारा कमरा अचानक बाजार की तरह गुलजार हो गया। तीनों बहुओं के लिए कई-कई साड़ियां, कपड़े, बच्चों के लिए सिले-सिलाए कपड़े और तरह-तरह के खिलौने– बम्बई के हवाई जहाज, टैंक, पनडुब्बी, कलकत्ते की रेलगाड़ी, उड़ने वाला कबूतर....

सारा घर बच्चों की खुशी से चहचहाने लगा। ससुर जी और छोटे देवर जी बच्चों से साथ-साथ खेलने लगे।

करीब ढाई साल बाद इन्दु जी यहां आई हैं। इस से पहले हर साल आती थीं बाकायदा कार्यक्रम बना कर। साथ में इन्दु के पति भी होते– प्रसाद साहब। संग में दो-तीन नौकर-चाकर भी। पर इस बार इन्दु जी बिल्कुल अकेली; बिना किसी को बताए, पूर्व-सूचना दिए अकस्मात् आई थीं।

ससुर जी ने पूछा– "बड़ी बहू, प्रसाद साहब कहां हैं? वह क्यों नहीं आए?"

"वह जापान गये हैं, पिताजी," इन्दु जी रुक-रुक कर बोलने लगीं– "दिल्ली में कोई एक नई इंडस्ट्री खोलना चाहते हैं। मैं तो कलकत्ते से बम्बई गई थी.... अखिल भारतीय महिला कल्याण की केन्द्रीय बैठक थी। पूना भी जाना पड़ा, एक लेक्चर देने.... हवाई जहाज से मद्रास जाना था.....न जाने क्यों अब तबियत भी ठीक नहीं रहती..... वजन भी देखिए, कितना बढ़ गया है? डाक्टर लोग भी.... यहां चली आई। आप सब मजे में हैं न? 'डाइटिंग' का भी मेरे ऊपर कोई असर नहीं पड़ता।"

"भाभी जी, अब आप चिट्ठी-पत्री भी नहीं देतीं।"

इन्दु जी ने छोटे देवर को ऐसे देखा, जैसे उस में कुछ अचानक ढूंढ कर ढूंढने लगी हों। उस के रेशमी बाल। कानों के पीछे वह गुच्छा। मुख की वह सरलता। आंखों में से जैसे कोई झांकता हुआ शिशु। ऐसे ही तो थे वह।

इन्दु जी ने स्नान किया। हल्के गुलाबी रंग की सिल्क की साड़ी पहनी। माथे पर कुमकुम का टीका लगाया। आंखों में जरा-सा काजल। गले में सफेद मोतियों का हार। और आइने में अपने आप को देखकर सहम गईं।

हां, हर बार ऐसे ही हुआ है। यही रंग, यही शृंगार और यही सहम जाना। जैसे वह यहां सिर्फ इसी के लिए ही आती हैं। इस भाव के साथ, बल्कि इसी के द्वारा वह यहां छूट जाना चाहती हैं– जैसे पेड़ से पत्ते और फूल जमीन में बरस कर छूट जाते हैं न, ठीक कुछ उसी तरह। पर यहां से जाते ही वह मानो बिना पात-फूल के वृक्ष की तरह हो जाती हैं। खादी की सफेद साड़ी, कलाई में घड़ी और कहीं कुछ भी नहीं। हां, इन बातों के लिए समय भी तो नहीं होता। तरह-तरह की समाज-सेवा, शिशु-कल्याण कार्य, नारी-निकेतन की जिम्मेदारी, प्रसाद साहब के तीन बच्चे, बंगले का इन्तजाम, घर-गृहस्थी, मेहमान-रिश्तेदार, नौकर, ड्राइवर, माली वगैरा।

मझली ने कहा–"चलिए, नाश्ता कर लीजिए।"

इन्दु जी के मुंह से निकला– "मेरे कमरे की चाभी मिली?"

"मिल जाएगी, नाश्ता कीजिए।"

बरामदे के तख्त पर बैठते हुए इन्दु जी ने कहा– "यहां आने का तो कार्यक्रम था नहीं, वरना चाभी साथ ले आती। चाभी कलकत्ते में हैं।"

"चाय' या काफी?" मझली बहू ने पूछा।

"चाय, पर दूध नहीं, चीनी भी नहीं, सिर्फ नींबू।"

यह कहती हुई इन्दु जी ने आंगन के आर-पार अपने कमरे की ओर निहारा। पूरब दिशा से एक गौरैया चिड़िया मुंह में तिनका दबाए हुए उसी कमरे की ओर उड़ी थी। इन्दु जी बिना कुछ मुंह में डाले, नींबू की काली, फीकी चाय पी रही थीं। नाश्ते की प्लेट सामने पड़ी थी। तीनों बहुएं बड़े मजे से नाश्ता कर रही थीं। हंस-बोल रही थीं और इन्दु जी की समाज-सेविका नारी उस हंसी-बोल में उसी तरह भाग ले रही थीं। छोटी बहू को रह-रह कर जंभाई आ रही थी। बड़ी बहू कनखियों से इन्दु जी को निहारती थी– उनकी मोटी गोरी बांह, गले का हार, और वह सब कुछ जो एक बहू दूसरी बहू में देखती है।

"कुछ भी नहीं खाइयेगा?" मझली बहू ने बड़े आदर से पूछा।

"पैंतीस साल के बाद स्त्री को खाना बिल्कुल कम कर देना चाहिए।"

बड़ी बहू की इस बात में छोटी बहू ने जोड़ा– "औरतें मोटी क्यों हो जाती हैं?"

इन्दु जी ने मुस्कराते हुए कहा–"हिन्दुस्तान की आबोहवा ही ऐसी है।"

छोटी बहू जंभाई लेते-लेते हंस पड़ी।

इन्दु जी की नजर बार-बार अपने कमरे की ओर जाती और वहां से थक कर लौट आती और शून्य में कहीं पालथी मार कर बैठ जाती। वह अपने इस मूल घर में इस तरह आकर जरा भी भावुक नहीं होती। मेहमान का भाव नहीं होता। बस, न ज़ाने कैसी कृतज्ञता का भाव होता है। यहां इस घर में इन्दु जी के मुश्किल से बारह दिन बीते हैं। बहू होकर आना, तीसरे दिन सुहागरात, आठवें दिन उनका बीमार हो जाना, और बस बारहवें दिन..... इसके बाद इन्दु जी को कुछ भी होश

नहीं। कहां, क्या हुआ, कैसे हुआ, क्यों हुआ, कुछ भी तो पता नहीं। उसी दिन से फिर होश है जब ससुर जी ने अपनी बेटी की तरह प्रसाद साहब के संग उसकी शादी रचा दी, तब उस समय लोगों में इस पर कैसी-कैसी प्रतिक्रियाएं हुई थीं। ससुर जी को क्या-क्या नहीं सुनना पड़ा था। प्रसाद साहब के खिलाफ कितना-कितना सब हुआ था।

इन्दु जी में केवल कृतज्ञता का भाव है–सबकी ओर से, सब से।

सहसा ससुर जी की आवाज गूंजी–"कुंजी नहीं मिल रही है तो बड़ी बहू का कमरा कैसे खुलेगा?"

इन्दु जी बिल्कुल बच्चों की तरह ससुर जी का मुंह ताकने लगी थीं।

"ताला तोड़ना होगा।"

"नहीं पिता जी!"

इन्दु जी भीतर से कांप गईं। ताला तोड़ना, यह भाव उन्हें ऐसा लगा जैसे तब उनकी सुहाग की ताजी चूड़ियां तोड़ी गई थीं।

"वह मुझे पिताजी ही कहता था, और लड़के मुझे पापा कहते हैं....." ससुर जी बोले। ससुर जी भावुक हो गए थे। उनकी आंखें छलछला आईं। इन्दु जी बिल्कुल दर्शक भाव से ताक रही थीं। इस घर में उनका ऐसा क्या बीता है कि वह भावुक हों।

ऐसा क्या?

अनिर्वचनीय!

हां, जो बिना बीते ही बीता है, जो बिना जिए ही जिया है, जो अब तक संग-संग है– मेले में मां की अंगुली पकड़ कर चलते हुए किसी बालक की तरह। ऐसे चुप भाव की तरह जो कहीं बाहर से नहीं मिला, भीतर से अपने आप उपजा है और अब तक बराबर बढ़ता चल रहा है– उस पाताल वृक्ष की तरह जो उल्टा टंगा है आकाश में, जिसकी जड़ें ऊपर हैं,वृक्ष नीचे शून्य में लटका है। उसी के पत्ते और फूल यहां इस घर में बरस जाते हैं, नहीं तो उस लटके हुए वृक्ष का वजन आकाश का शून्य संभाल नहीं पाता।

एकाएक छोटी बहू की हंसी चमकी।

आगे-आगे देवर और पीछे छोटी बहू अपने कमरे से निकले।

"चाभी मिल गई भाभी जी!"

छोटी बहू ने इन्दु जी के हाथ में उनके कमरे की चाभी दे दी।

"कहां मिली?"

"थी तो।"

चाभी हाथ में लिए हुए इन्दु जी जैसे कहीं खो गयीं। उसके स्पर्श मात्र से उनके भीतर कुछ गलने-पिघलने लगा। सांस फूलने लगी, अजीब-सी आशंका दहशत— बिल्कुल उस रात वाली, जब पहली बार उस कमरे में.... उसी तरह धीरे-धीरे इन्दु के पांव उस कमरे की ओर बढ़ने लगे और इन्दु जी उसे देखने लगीं— इन्दु जी इन्दु को। जैसे मां बेटी को देखती है, विदा करते समय।

पता नहीं आज हाथ इतने कांप क्यों रहे थे? ताले में चाभी जैसे जाना ही नहीं चाह रही थी। ताला खुला तो दरवाजा छुए हुए खड़ी रह गईं। जैसे कह रही हों—अन्दर आ जाऊं?

धीरे से दरवाजा खोला, जैसे उसके भीतर कोई सो रहा हो, वह कहीं आहट से जग न जाए। धीरे से टेबिल-लैम्प जलाया और आंख मूंदे पूरे कमरे को देखती रहीं। खुली आंख से देखने में कुछ बिखर जाने का भय था।

फिर दूसरा लैम्प जलाया। कमरे में आड़ी-तिरछी रोशनी में तरह-तरह के दृश्य-अदृश्य चित्र उभरने लगे। इन्दु जी फिर आंखें फाड़े पूरे कमरे को देखने लगीं। पूरा कमरा बिल्कुल झाड़ा-पोंछा था। उनके चित्र पर किसने यह कपड़ा डाल कर ढक दिया है? कौन आया था इस कमरे में? चित्र से कपड़ा उठाते हुए हृदय इस तरह कांपा, जैसे हवा में पीपल पात। और न जाने कब तक उस चित्र के सामने मूर्तिवत् वह खड़ी रह गईं।

"कैसी हो?"

जैस चित्र ने निश्शब्द पूछा हो और इन्दु जी ने इन्दु को सहारा दिया हो, उत्तर देने का।

पर कहीं कुछ उत्तर न दिया गया। आंख ही जैसे हाथ हो गए हों। उन्हीं से कमरे का एक-एक सामान छुआ जाने लगा। ब्याह का एलबम, दोनों जयमाल, ब्याह के जोड़े, कपड़े, रेशमी गिलाफ, तकिए के फूल और सिरहाने की वह रूमाल। पास में ही खड़ा वह टेबिल-लैम्प। इसी तरह तब लैम्प बुझाया गया था। कई बार लैम्प जलाया और बुझाया। वे शब्द जैसे अब भी सदा उस कमरे में हैं— 'रोशनी बुझा दें', 'अब जेला दें....'

और क्या बातें हुई थीं इस कमरे में?

इन्दु जी उस कमरे में ढूंढ़ने लगीं। फिर थक कर उसी पलंग पर बैठ गईं।

कहां कोई बात हो पाई थी।

वे बातें क्या थीं?

कल्पना से भी नहीं जानी जा सकतीं।

फिर वह क्या है, जो हरदम संग-संग रहता है। इस कमरे में और इससे परे भी उसी आकाश की तरह, जिसका मौजूद रहना कहीं खत्म नहीं होता।

पीठ और कन्धे पर कोई धीरे-धीरे असंख्य हाथों से सहला रहा है। उसकी अनन्त अंगुलियां बालों में उलझ रही हैं।

एकाएक लगा, बाहर से कोई इस कमरे में झांक रहा है। पर कमरा तो भीतर से बन्द है और पर्दा भी खिंचा हुआ है।

नहीं, कोई और कमरे में ही उपस्थित है।

यह कौन है? किसने कमरे में झाड़-पोंछ की है? कमरे भर में पड़ी धूल को धीरे-धीरे स्वयं ही झाड़ना-पोंछना कितना अच्छा लगा था! कितना एकान्त, कितना अनिर्वचनीय!

इन्दु जी ने कमरे का दरवाजा खोल दिया। आंगन में खेलते हुए बच्चों की आवाज कमरे में दौड़ कर घुस गई।

छोटी बहू की ठहाकेदार हंसी फिर चमकी और इस कमरे में आकर एक कोने में खड़ी रह गई। इन्दु जी ने जल्दी से चित्र के ऊपर वही पर्दा ओढ़ा दिया और फिर उसी तरह आंख मूंदे देखती रह गईं।

शोनू और निनी कमरे में घुस गए। शोनू की गुड़िया अब आंख नहीं खोलती थी।

निनी का कबूतर अब उड़ता नहीं था। दोनों वही ठीक कराने आई थीं।

इन्दु जी कमरे से बाहर निकल कर आंगन के बरामदे में पड़े पलंग पर बैठ गईं। सारे बच्चों ने उन्हें घेर लिया। किसी का खिलौना अब तक टूट चुका था, किसी का रुक गया था। किसी को चलाना और चाभी देना भूल गया था। इन्दु जी ने सबके खिलौने ठीक कर दिए। शोनू की गुड़िया फिर आंख खोलने और मूंदने लगी थी। निनी का कबूतर फिर से उड़ने लगा था।

बेहद थके पांव से इन्दु जी छोटे देवर के पास गईं। वह गद्दी पर बैठा दूकान को फोन कर रहा था। भाभी को देखते ही उसने फोन रख दिया।

"कहो भाभी जी!"

"मेरा कमरा किसी ने खोला था?"

छोटा देवर संकोच से गड़ गया— "हां भाभी जी, उसी छोटी ने। मैंने उसे बहुत डांटा। मैं माफी मांगता हूं।"

"तो क्या हुआ!" इन्दु जी ने उसे रोक लिया और मुस्कराने लगीं देवर के चेहरे पर आंखें गाड़े हुए।

"आओ तो, जरा देखूं तुम्हारा कमरा!"

देवर को संग लिए हुए उसके कमरे की ओर बढ़ीं। देवर का वह कमरा बिल्कुल रसोई घर से ही सटा हुआ था। दूसरी ओर नहाने का कमरा लगा था। कमरे में पांव रखा, तभी छोटी बहू हंसती हुई न जानें कहां से आ गई। कमरे में सिर्फ एक रोशनदान, जहां से हवा कम, गुसलखाने के गिरते हुए पानी का शोर ज्यादा।

छोटी बहू ने जंभाई लेते हुए कहा— "चार बजे ही मेरी आंख खुल जाती है। ससुर जी ठीक उसी समय स्नान करने लगते हैं।"

फिर अंगड़ाई लेते हुए बोली— "इस कमरे में दिन को भी सोना मुश्किल है, रसोई घर से...."

तभी देवर जी ने बात बदल दी— "भाभी जी, और क्या हालचाल हैं? कुछ कलकत्ते की बात बताइए!"

इन्दु जी की दाईं कनपटी पर बालों का एक हल्का-सा गुच्छा उड़ रहा था। बाएं हाथ की अंगुलियां मोती के हार में उलझी हुई थीं और वह न जाने कहां क्या देख रही थीं।

"भाभी जी!" देवर जी के इस शब्द ने इन्दु जी को सहसा जगा दिया। उनके मुंह से निकला— "आओ, कोई खेल खेलें!"

छोटी बहू झट ताश निकाल कर फेंटने लगी।

देवर ने पूछा— "भाभी जी, क्या खेलिएगा?"

"तुम बताओ!"

"नहीं, आप!"

बाएं हाथ की पांचों अंगुलियों का एक गुच्छा बना कर दाईं मुट्ठी में बांध लिया। पांचों अंगुलियों के सिरे नन्हे-नन्हे लाल पुष्प की तरह खिल गए। इन्दु जी ने कहा— "लो पकड़ो, मेरी बीच की अंगुली।"

देवर जी अंगुलियों के ऊपर अपनी बीच की अंगुली फेरने लगे। इन्दु जी के भीतर कुछ सनसन-सनसन करने लगा। वह एकदम कमरे की दूधिया छत निहारने लगीं। वह छत नीला आकाश हो गया। शरद ऋतु का आकाश। उस में तारे छिटक आए। वह सितारा कौन है? कहां है?

देवर जी ने उछल कर कहा— "यह है बीच की अंगुली।"

इन्दु जी ने मुट्ठी खोल दी। वह बीच की अंगुली नहीं थी। यही खेल होने लगा। छोटी बहू ने भी कई बार कोशिश की। सब हार गए।

हार कर देवर ने पूछा— "वह बीच की अंगुली आप कहां छिपा लेती हैं?"

"कोई अपना रहस्य बताता है!" इन्दु जी हंस पड़ीं। ऐसी हंसी, जैसे चमेली के फूल बरस गए हों।

छोटी बहू ने कहा— "मुझे पता है, आप बीच की अंगुली हथेली में ही मोड़ लेती हैं और उस की जगह दाएं हाथ की एक अंगुली मिला देती हैं।"

इन्दु जी छोटी बहू को निहारती रह गईं। छोटी बहू हंसने लगी थी। जैसे उसने रहस्य जान लिया हो।

"क्यों भाभी जी, यह ठीक कहती है?"

"एक की जगह दूसरी...."

इन्दु जी जैसे खुद सवाल पूछ रही हों। तब तक उस कमरे में मझली बहू चाय लेकर आ गई। अपनी नींबू की फीकी चाय देखकर इन्दु जी ने अजब स्वर में कहा– "इसकी जगह यह चाय कैसी रहेगी?"

और वह न जाने कितने दिनों बाद दूध और चीनी वाली चाय पीने लगीं– बिल्कुल चुपचाप। आखिरी घूंट पीकर एकाएक बोलीं– "एक की जगह दूसरी, दूसरी...." लगा, कमर दुखने लगी हो। आह करके उठने लगीं तो लगा 'हे राम' कह रही हों।

खड़ी होकर एक बार फिर कमरे को देखा और छोटी बहू के पलंग पर पालथी मार कर बैठ गईं। एक-एक कर सब के मुंह ताकने लगीं और धीरे से वहीं आह भर के पलंग पर सो गईं। थोड़ी ही देर बाद उनकी नाक बजने लगी। तीनों फर्श पर गुलाम-चोर खेलने लगे। पहला गुलाम छोटी बहू ने पकड़ा। दूसरा देवर ने। तीसरा मझली बहू ने। और चौथा गुलाम पकड़ते-पकड़ते खाने का समय हो गया। बड़ी बहू न जाने किस बात पर महराजिन को चौके में डांटने लगीं। और खेल खत्म हो गया।

इन्दु जी की नींद टूटी तो देखा, महराजिन भोजन के लिए खड़ी थी और न जाने क्या बड़बड़ा रही थी।

"क्या बात है महराजिन ?" इन्दु जी ने पूछा।

उस ने कहा– "क्या बताऊं बहूरानी, जब आप यहां आती हैं, और सारा घर जब आप को बड़ी बहू के नाम से पुकारता है तो यह बड़ी बहू जल कर खाक होती हैं।"

इन्दु जी अपने कमरे की चाभी से बच्चों की तरह खेलने लगीं। तभी कमरे में छोटी बहू और देवर जी आए।

"अरे, आप का भोजन ठण्डा हो रहा है।"

एक अजब मर्मभेदी नजर से इन्दु जी ने दोनों की ओर देखा। छोटी बहू को चाभी देते हुए कहा– "यह लो, वह कमरा अब तुम दोनों का है...."

दोनों मूर्तिवत् निहारने लगे। देवर ने कहा– "पर यह कैसे होगा भाभी जी, वह कमरा ही तो...."

"अब वह तुम्हारा है।" इन्दु जी यह कह कर मुस्करा पड़ीं।

यह खबर जब ससुर जी के पास पहुंची तब वह आंगन में आकर बोलने लगे– "इस का मतलब है कि अब वह यहां नहीं आएगी!"

सहसा इन्दु जी सामने आईं– "पिताजी, मैं जरूर आऊंगी। क्यों नहीं आऊंगी?"

"फिर तुम्हारा कमरा?"

"मेरा कमरा!"

इन्दु जी की नजर उस कमरे की ओर गईं। उधर से वही गौरैया आ कर आंगन से ऊपर उड़ गई । बरामदे में बच्चे खिलौने खेल रहे थे। टैंक चल रहे थे। मोटर-गाड़ियां दौड़ रही थीं। बन्दूक के फायर हो रहे थे।

शोनू अपना कबूतर ले कर आई। कबूतर अब उड़ नहीं पा रहा था। उसके दोनों पंख झूल गए थे।

"बड़ी मां, मेरा कबूतर?"

"दूसरा आ जाएगा बेटे!"

"दूसरा?"

इन्दु जी ने शोनू को अंक में भर लिया। उसकी गीली आंखों को वह निहारने लगीं।

आंगन के आकाश में एक हवाई जहाज उड़ा जा रहा था।

(१९६१)

अश्वमेघ का घोड़ा

चलती हुई बैलगाड़ी। बैल हांकते-हांकते गाड़ीवान के कंठ से गीत सहसा फूट पड़ा– 'सुखिया के मारे बिरहा बिसरिगै!' लगता था, मानो वह गीत अब खत्म नहीं होगा। गाड़ी में बैठे-बैठे मैं तंग आ गया था। गाड़ी से बाहर कूदकर पैदल चलने लगा। गाड़ीवान बोला, "बैठे-बैठे थक गयो साहेब?"

मैं बोला नहीं। गाड़ीवान बड़बड़ाता रहा, "अभी दिन डूबै मा दुई घंटा बाकी है। आधे घंटा मा घाट पहुंच जाब। सरजू मइया का आखिरी खेवा जरूर मिलि जाई साहेब। उइह पार कौने गांव जाबो साहेब?"

"असमेधू...."

"ओ हो....ममारखपुर के पास वाला असमेधू। ई कहो न साहेब, ऊ गांव में तो हमरे यहां के एक कुरमी कै समधियान है।"

गाड़ी पर मेरा सामान रखा है– एक होल्डाल, एक बक्स और बेंत की एक डोल्ची। बक्स पर सफेद रंग से लिखा है मेरा नाम– कैप्टन आर. के. सिंह यादव। पूरब दिशा में सावन के काले बादलों के छोटे-छोटे पहाड़ उभरे हैं। दिन भर पुरवइया बहकर अब थम गई है। मैं थके मन से उस कच्चे रास्ते को देखता हुआ सोच रहा हूं– अजब हैं ये धूल-भरे रास्ते, ये सूनी पगडंडियां, ये उदास गांव, कभी नहीं बदलते। परिवर्तन जैसे इन्हें छू नहीं पाता। इन्हीं पगडंडियों से तब पैदल चलकर मैं पहली बार गांव से शहर गया था। हां याद है...कितने दिनों की बात है...हां, शायद बीस-पचीस साल से भी ऊपर हो गये। पर क्या फायदा उन बीती बातों को याद कर! आज इस पर बैलगाड़ी के पहिये चल रहे हैं, पर ये मेरी जिंदगी, मेरे जीवन इतिहास-बोध की जमीन पर चलते-से क्यों लग रहे हैं? हां, सच, बहुत कुछ अटपटा भी लगता है!

बहादुरपुर ब्लाक डेवलेपमेंट की पक्की इमारतें पश्चिम दिशा में चमक रही हैं और नहर बाजार बिजली-स्टेशन पूरब की ओर से। दोनों के बीच में है यह कच्ची सड़क। बहुत कुछ तब से बदल गया है। यह नहर पहले नहीं थी। पर दूसरी ओर कुछ भी नहीं बदला है। सामने सोती नदी का वही पुराना पत्थरों वाला पुल। दायीं ओर वही बबूल के जंगल, वही नंग-धड़ंग लड़के– भैंस, गोरू चराते हुए।

इन्हीं असंख्य गांवों की ही तरह मेरा भी वह गांव है। वाह, क्या नाम..... असमेधू। पता नहीं, किसने वहां अश्वमेध यज्ञ किया था? सब जाति के लोग हैं गांव में, मगर सब प्रजा जाति के हैं, चाहे ब्राह्मण ही क्यों न हों। गांव में जमींदार हैं तो वही ठाकुर रमायन सिंह। जमींदारी चाहे कब की खत्म हो गयी है तो क्या!

उनका लड़का शेरसिंह मेरा हमजोली था। मैं अहीर, वह ठाकुर। पर दोस्ती पक्की थी। हम दोनों ने एक साथ हाईस्कूल पास किया। सन् अड़तालीस की बात है। हमारी उमर यही अठारह-उन्नीस की रही होगी। शेरसिंह के मामा कहीं डिप्टी-कलक्टर थे। सो उन्होंने शेरसिंह को जान-बूझकर सबसे मालदार महकमे, इनकमटैक्स, में लगा दिया और वह पट्ठा शेरसिंह दो सौ रुपये महीने घर भेजने लगा। और मैं! मैं फर्स्ट डिवीजन में हाईस्कूल पास करके भी घर बैठा रहा–बेकार।

हाय, एक दिन काका का वह गुस्सा! क्या नहीं कह दिया उन्होंने, "अरे ससुरा डूब मर चुल्लू भर पानी मा, कालिख लगा ले....वह शेरसिंह दो सौ रुपये भेजता है घर मा, हर माह, और इ मक्खी मार रहल वाय।'

पूरे दो वर्ष घर बैठे रहने की बेकारी का अपमान मुझे आज तक नहीं भूला जाता। काका को तब क्या उत्तर देता! आज.... हां आज...आज मैं जानता हूं, देश को आजाद हुए अब इतने-इतने वर्ष बीत गये हैं। तब तो सिर्फ मास्टर साहब ने बताया था, 'देश आज आजाद हुआ है।' पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस....तब हम नवीं जमात में थे।

वंदे मातरम....जै हिंद!

बैलगाड़ी सरजूघाट के करीब पहुंच गयी।

गाड़ीवान बोला, "अभी एक हाथ दिन बाकी है! गंगा मइआ का आखिरी खेवा जरूर मिल जाई साहेब!"

"अच्छा!"

"हां, नहीं तो....आवो अब गाड़ी पर बइठि लेव, सड़क अच्छो आय इधर।"

मैं बैठ गया। गाड़ीवान से बातें करने लगा। जहां वह सड़क खत्म हुई और सामने बढ़ी हुई सरजू का घाट दिखाई दिया, वहीं यह पता चला, बाढ़ के कारण आखिरी खेवा आज नहीं जाएगा। सुबह बड़ी नाव उस पार जाएगी। घाट पर पहुंचकर मैं चिंतित हो गया। किसी तरह आज ही उस पार जाना होगा। गांव में प्रतीक्षा हो रही होगी। मेरे छोटे भाई कन्हई की हत्या हुई है। किसी भी कीमत पर घर पहुंचना ही है।

दिन डूब गया। सरजू नदी की बाढ़ जवानी पर है। इधर की सारी जमीन काटती हुई उसकी धार उतार की ओर बढ़ रही है। चारों ओर पानी का गर्जन सुनायी दे रहा है। कोई मल्लाह तैयार नहीं हो रहा है नाव उस पार ले जाने के लिए। कैप्टन रामकिशोर यादव को किसी भी तरह उस पार जाना ही है।

किसी तरह पचास रुपये में एक मल्लाह तैयार हुआ नाव उस पार ले जाने के लिए। पर उसने साफ कह दिया– "अगर बीच में नाव कहीं बह गयी, या डूब गयी, तो उसकी जिम्मेदारी नहीं।"

नाव पर सामान रखकर मैं बैठ गया। नाव खुली तो पूरब की

ओर बहने लगी। असली धारा इसी ओर थी। नाव उस धार को काटकर आगे बढ़े, इसके लिए मल्लाह पानी से लड़ने लगा और बीच-बीच में कहता जाता– "सब भगवान के हाथ में है।"

यही बात तो तब कन्हई ने कही थी मेरी पत्नी से–"भौजी, किशोर भइया को आगे पढ़ना चाहिए। काका उन्हें डांटते हैं तो बड़ी दया आती है। सब भगवान के हाथ में है भौजी। भइया को गहना-गुरिया बेचकर पढ़ने भेजो, घर-खेती का काम हम संभार लेवे!"

मैं उसी रात घर से भाग निकला और बस्ती शहर में जा पहुंचा था। जिला परिषद के दफ्तर में एक जगह खाली थी। इम्तहान हुआ। मैं सबसे अव्वल पास हुआ, पर चालीस रुपये घूस देने पड़े थे। दफ्तर के बड़े बाबू ने एक दिन मुझसे पूछा, "तुम्हारी शादी-वादी तो नहीं हुई है न?"

"हुई है वह तो!"

इस पर सारा दफ्तर हंस पड़ा था। मुझे बड़ी चोट लगी। शादी मेरे वश की बात तो थी नहीं, ठीक जैसे हाईस्कूल के बाद शेरसिंह को उतनी बड़ी आमदनी की नौकरी झट मिल गई और मैं दो बरस बेकार बैठा रहा।

नाव धार को काटने में लगी थी। मल्लाह बोला, "साहेब, आप तो फौज के इतने भारी अफसर हैं, ई नदी पर पुल बने बदे काहे न कोशिश कर देव!"

मुझे हंसी आ गयी। बेचारे मल्लाह को क्या पता, मैं क्या हूं... यह दुनिया क्या है.... कहां-कहां मुझे भटकना पड़ा है।

मैं जिला परिषद के दफ्तर में क्लर्की करता था। बीस रुपये महीने घर भेजता और दिन-रात इंटर पास होने के स्वप्न देखता। एक दिन बड़े बाबू ने उस बांकुरियामल सेठ से मेरी भेंट करायी। सेठ को मैं रोज सुबह-शाम अखबार पढ़कर सुनाता। बदले में मुझे तीस रुपये महीने मिलते।

इस तरह कुछ रुपये जोड़े और नौकरी छोड़कर मैं इंटर परीक्षा पास हो गया।

नाव किनारे की धार को काटकर आगे बढ़ी। एक घंटा रात हो आयी थी, पर रात चांदनी थी। मल्लाह एकटक मुझे निहारने लगा।

मैंने पूछा, "क्या देख रहे हो?"

मल्लाह बोला, "हुजूर, आप फौज में कमांडर हैं?"

"नहीं भाई, कप्तान!"

"साहेब, वही, वही....आप कहां से आवत हैं?"

"दिल्ली से!"

"साहेब, आजकल इधर गांवन मा चकबंदी होय रहल बाय। बड़ा किचाहिन है साहेब। एक से एक फौजदारी, कतल.... मुकदमा.... घूस.... बेईमानी...।"

मैं सोचने लगा, इसी चकबंदी में ही तो मेरे छोटे भाई का कत्ल हुआ है और मैं तार देकर घर बुलाया गया हूं। मैं फिर सोच में डूब गया.... मेरे घर के लोग समझते हैं, मेरे पास न जाने कितना अधिकार है। इसी तरह मेरे पास न जाने कितने रुपये हैं। मैं जाट रेजिमेंट में एक कैप्टन हूं। चीन और पाकिस्तान से दो लड़ाइयां लड़ चुका हूं। पर आज अपने उसी गांव जाते समय मेरा कलेजा थर-थर कांप रहा है। मेरा प्राणों से अधिक प्यारा भाई कन्हई मारा गया है, इस चकबंदी में....। मैं आगे पढ़ूं, इसलिए उसने सारी खेती संभाली थी। वह स्वयं मिडिल स्कूल से आगे नहीं पढ़ सका था।

एक मल्लाह ने कहा, "साहेब, ई बंगलादेश का है....सुना है, पाकिस्तान से फिर हमार लड़ाई होई।"

मैं चुप रह गया। एक सिगरेट पीते-पीते मन फिर पीछे दौड़ने लगा...।

इंटर पास होने के बाद मुझे किसी दफ्तर में नौकरी न मिली। अत में सेठ बांकुरियामल के प्रयत्न से एक स्कूल में पी.टी. टीचर की जगह मिली। वहां स्कूल के स्टाफ-क्वार्टर में जगह भी मिल गयी। हेडमास्टर के आदेशानुसार मुझे वहां अपनी 'फैमिली' ले आनी पड़ी। दो बच्चों के संग घूंघट निकाले हुए जब मेरी अपढ़, गंवार धर्मपत्नी वहां आयी तो आसपास के लोगों को मजाक का जैसे मसाला मिल

गया। मेरी पत्नी मनराजी का वहां जरा भी जी न लगता। एक दिन उसने कहा, "इहां हम नाहीं रहब।"

"क्यों नहीं?"

"इहां कै लोग हम्मै पसंद नाहीं।"

"पर सोचो, क्या हमारा सारा जीवन इसी तरह बीतेगा? तुम गांव में, मैं जीवन भर शहर में।"

"तो का हुआ, शहर में रहब ही जीवन है का? राउर तो मर्द हैं, चिंता काहे। आप मजे से यहां रहें, हम बच्चों के साथ गांव मा खुशी से रहिलेब।"

"और वहां बच्चों की लिखाई-पढ़ाई?"

... मेरे बच्चे गांव लौट गये। घर पर साठ रुपये माहवार भेजता, पर काका तब भी मेरी तुलना उसी शेरसिंह से करते, जो अपने घर अब भी दो सौ रुपये माहवार भेजता। इसी बीच एक घटना और घटी। मैं जाति का अहीर था और वह स्कूल ठाकुरों का था। मेरे नाम में सिंह लगा था। इसीलिए मुझे ठाकुर समझकर वह नौकरी मिली थी। पर मेरी पत्नी के कारण जैसे ही मेरी अहीर जाति का पता उन्हें मिला, मैं नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। मुझे वह अपमान आज तक नहीं भूलता। मैंने स्कूल के खिलाफ सरकार को लिखा। इस पर स्कूल ने मेरा प्राविडेंट फंड रोक लिया और कहीं भी मुझे न्याय न मिला।

फिर मुझे सेठ की कानपुर वाली कोठी में बच्चों को पढ़ाने का काम मिला। एक दिन मैंने सेठजी से कहा, "मैं किसी तरह बी.ए. पढ़ना चाहता हूं।"

सेठजी ने प्रसन्नता से एक अजीब लहजे में कहा, "आपन को क्या, पढ़ो न, पन तू पढ़ेगा कैसे? यहां बच्चों को कून पढ़ायेगा?"

मैंने स्कीम बता दी—"सुबह-शाम पढ़ाना, दिन भर कालेज।"

सेठ जी ने मंजूरी देते हुए कहा, "पन हम बोलता, हमारा काम में हर्जा नहीं होना चाहिए। हम मुस्तैदी मांगता। अउर हां, बी.ए. पास होने के बाद हमसे अपनी पगार बढ़ाने के लिए मत बोलना, हां।"

मैं बी. ए. (हिस्ट्री) आनर्स में पढ़ने लगा। सर्वेंट-क्वार्टर्स कहे

जाने वाले मकान के एक कमरे में रहता। कोठी में तीन तरह के भोजन बनते। मैं उसी तीसरी कोटि का हकदार था। सेठ की एक कोठी दिल्ली में थी, मुझे कभी-कभी सेठ के साथ वहां भी जाना पड़ता। वहां सुबह-शाम सरकारी अफसरों और सेठ जी में जो बातें होतीं, उन्हें सुनकर मैं अवाक् रह जाता।

हंसी और मजाक! और यहां तक कि गालियां भी। इन गाली देने वाले लोगों में वे ही लोग होते, जो राजनीतिक व्यक्तियों और सरकारी अफसरों को भ्रष्ट कर उल्टे-सीधे काम लेते थे। उनमें से एक थे श्री खोसला साहब। वे किसी मंत्रालय में से भयानक भ्रष्टाचार के आरोप के कारण निकाले गए थे और एक बड़ी फर्म में जनरल मैनेजर थे। एक दिन उनसे मेरी झड़प हो गयी, क्योंकि मैं उनके आने पर उठकर खड़ा नहीं हो सका।

नाव मझधार में आ गयी थी और अब मल्लाह आराम से नाव को उस पार ले जा रहा था। मैं उन्हीं पूर्व-चित्रों के दलदल में फंसा था। एक दिन उसी खोसला साहब ने कहा, "सुना है तू बी. ए. पास हो गया?"

"जी।"

"ये ले चिट्ठी। इस मिनिस्ट्री में हैं मिस्टर टी. सोनिया, उनसे कल मिल लेना।"

मैं दूसरे दिन मिस्टर सोनिया से मिला। सच, मुझे तत्काल नौकरी मिल गयी। असिस्टेंट रिसर्च आफिसर...। मैं बेहद एहसानमंद हुआ। एक दिन मैंने सेठ जी और खोसला साहब की बातचीत सुनी— "बात यह है सेठजी, मैंने उसे इसलिए झट नौकरी दिला दी कि वह यहां कोठी पर न रहे। वह ठीक आदमी नहीं है हमारे लिए।"

"पन वो तो बड़ा ईमानदार आदमी है जी!"

"ईमानदार आदमी अब किसी काम का नहीं होता! ये लोग बड़े खतरनाक होते हैं। कोई भरोसा नहीं। सच्चे लोग विरोधी होते हैं।"

एकाएक मल्लाह ने पूछा, "साहेब, कबों हमरो दिन बदली?"

मैं चुपचाप उसे देखता रह गया.... अवाक्,..... निरुत्तर। नाव

अब मझधार से उस पार जाने लगी थी। और मुझे याद आ रहा था— उन्नीस सौ बासठ! तब तीसरे आम चुनाव के साथ फिर मेरे जीवन में एक नया मोड़ आया था। अकस्मात् चीन ने भारत पर आक्रमण किया था। देश भर में एमरजेंसी लागू हुई थी और एक दिन एमरजेंसी कमीशन से सेकंड लेफ्टीनेंट के लिए मैं चुन लिया गया। पहाड़ी युद्ध की ट्रेनिंग शुरू हुई, इनफेंट्री जाट रेजिमेंट में। यह सब इतनी तेजी से घटा, मानो फौजी जीवन के लिए ही मेरा जन्म हुआ था। सच, मेरे भीतर जो युद्ध था..... सामाजिक, आर्थिक स्तर पर... न्याय-अन्याय को लेकर जो संघर्ष मैंने अनुभव किया था, सोचा, इस फौजी जीवन में उसकी अभिव्यक्ति मिल जाएगी; पर वह युद्ध तो और गंभीर होता गया!

उधर गांव में काका सब पर रोब डालते। जमींदार के घर से उनकी ठन गयी। वे ताल ठोंककर कहते, "अरे हमार रमकिसोरवा फौज मा कमांडर ह्वै गै, दुइ-दुइ पिस्तौल बांधता है— जिसको चाहे उड़ाय देय। उसका तीन खून माफ हैं हर साल भर मा। इ है कि जमींदार होंगे अपने घर में बड़े, मुला रमकिसोरवा केहू से कम नहीं ना। अब आवै केऊ फौजदारी कै ले, चाहे मुकदमा लड़िले, हां।"

मैं फौजी छावनी से काका को खत लिखता कि काका तुम्हारा ऐसा सोचना दुर्भाग्यपूर्ण है, पर गांव की सैकड़ों वर्षों की जहालत के सामने सब फिजूल!

उधर चीन से हमारी लड़ाई की सीमा असीम होती गयी। मेरी बटालियन को एक हफ्ते के भीतर नेफा बार्डर पर पहुंचना था। तभी मेरे सामने वही खोसला साहब हाजिर हुए।

उस दिन उनके चेहरे पर भलमनसाहत का मुखौटा चढ़ा हुआ था; पर शीघ्र ही यह मुखौटा उतर गया। खोसला साहब मेरे कर्नल से मिलना चाहते थे! वे मुझे तीन हजार कमीशन देकर एक लाख कंबलों की सप्लाई का आर्डर प्राप्त करना चाहते थे। उनका मकसद जानते ही मैंने कहा, "निकल जाइए यहां से, वर्ना आपकी खैरियत नहीं!"

फिर नेफा बार्डर पर चीनियों का वह आक्रमण। बाप रे बाप !

वह दो दिनों की लगातार लड़ाई! लड़ते-लड़ते मैं एक संकरी घाटी में अपने कर्नल सहित पच्चीस सिपाहियों के साथ चीनियों से घिर गया। सब मारे गये— बच रहे केवल तीन। लड़ते-लड़ते तीनों एक ऐसे बिंदु पर आये जहां एक ओर पहाड़ी नदी थी और दूसरी ओर घना जंगल। मैं, एक सिपाही और कर्नल साहब नदी के कगार से लटककर छिप गये। करीब पचास चीनी सिपाही वहां ढूंढ़ते हुए आये और इधर-उधर तितर-बितर होकर घूमने लगे। हम तीनों ने छिपकर फायर शुरू किया। दस लाशों को छोड़कर वे चीनी भागे। युद्ध की समाप्ति पर अगले वर्ष द्वितीय श्रेणी के 'महावीर चक्र' से मैं पुरस्कृत हुआ। और इस बहादुरी, गौरव के साथ जब मैं इसी तरह अपने गांव लौटा था, तब मैं अपने गांव के वातावरण से दो ही दिन में घबरा गया था। एक जाति का दूसरी से उतना बैर..... गांव वालों का ब्लाक डेवलपमेंट वालों से वह भयानक झगड़ा। काका का वह गुस्सा..... वह अपराध-भाव, और आदर्श-शून्यता के कारण पूरे गांव का वह विकृत वातावरण। और तीसरे दिन ही मैं गांव से चला गया था— बल्कि भाग आया था और उन्नीस सौ पैंसठ में फिर वह पाकिस्तानी युद्ध.... पहला मोर्चा हाजीपीर में.... फिर सियालकोट..... फिर युद्ध समाप्त और अब बंगला देश के मुक्ति-संग्राम से वापस.....।

नाव उस पार पहुंच गयी। आधी रात अब होने को थी। मल्लाह के सिर पर सामान रखवाये मैं अपने गांव की ओर चला। चांद बिल्कुल सिर पर चमक रहा था। पीछे सरजू की बाढ़ के पानी की हरहराहट की गूंज। उसमें झाऊ के जंगल के बीच से हू-हू करती हुई पुरवा हवा। सामने ठाकुर के आम की बगिया आयी। पेड़ों से पक्के आम टपक रहे थे। सियारों का झुंड आमों की दावत उड़ा रहा था। उन्हें देखते ही सियार हुआं-हुआं करने लगे। बगिया पार करके एक मील के बाद उसका गांव आ गया— असमेधू। गांव में पैर रखते ही कुत्ते भौंकने लगे। अपने घर के दरवाजे पर आकर वह चुप खड़ा रह गया। पर कुत्तों का झुंड शोर मचा रहा था। सहसा काका जाग उठे, "कौन?"

"मैं हूं काका, राम-राम...पांव लागी मां!"

धीरे-धीरे सारा घर जग गया। लोग रोने लगे। कन्हई की औरत

विलाप करने लगी। काका अपनी रुलाई रोकते हुए अजब दर्द-भरे स्वर में राम-राम कहने लगे। आसपास के लोग आकर खड़े हो गये और उसे निहारने-बतियाने लगे।

जिस दिन दिवंगत कन्हई की तेरहवीं का कर्म खत्म हुआ, उसी दिन मैंने काका से पूछा, "काका, मुझे क्या आज्ञा है?"

काका धीरे-धीरे कहने लगे, "बात ई है रामकिशोर बेटा, हमारा दाहिना हाथ कन्हई बेटा अब नहीं रहा और सारे गांवन मा भयानक पार्टीबंदी है। हमरे जात होला और जमींदार से पुश्तैनी दुश्मनी है।"

"मगर क्यों है काका?"

"है, यही तो बताय रहन हैं।"

"मगर क्यों है....यही तो मैं जानना चाहता हूं।"

काका ने डांट दिया, "तू क्या समझे?"

फिर वही सदा का सन्नाटा।

काका आगे बोल उठे, "और जब से गांवन मा ई ग्राम-पंचायत आयी है और ऊपर से ई चकबंदी, फिर तो सब जातन मा नफरत कै जहर घुलिगै। कन्हई कै कतल इसी जहर की कटार से हुआ। अब तू ही बदला ले अपने भाई के खून का।"

"किससे लूं बदला काका?"

"दुश्मनों से।"

"मगर कैसे? कहां-कहां..... किनसे?"

काका आवेश में लाल-पीले होकर भड़क उठे, "तो औरतों के माफिक जा चूड़ी-चुनरी पहन ले। हमें पहले से ही अगर ई पता होत कि तू पूत नहीं जनाना निकलेगा तो तार मारिकै तुझे नहीं बुलाइत!"

"काका...."

"तू फौज मा कमांडर है....और हमें विश्वास रहा कि तुझे तीन खून माफ हैं। हमने बुलाया था वही तीन खून करने के लिए।"

"कौन-कौन काका?"

"पहला खून जमींदार रमायन सिंह का, दूसरा चकबंदी अफसर

का, तीसरा सुमेरू पंडित का....इसी की साजिश से कन्हई का कतल रमायन सिंह ने कराया है।''

यह सब सुनते ही मेरे सिर में अजब ढंग की झनझनाहट होने लगी। एक लंबी फेहरिस्त उन असंख्य नामों की झूलने लगी जिन्हें मारना होगा....असंख्य कत्ल। मैं भागकर घर के अंदर जा घुसा। अपनी पत्नी से बोला, ''हमारे दोनों लड़के कहां हैं?''

''बड़ा लड़का परदेशी भैंस चराने गया है। छोटा विदेशी बाजार गया है तम्बाकू लाने।''

''तो मेरे लड़के पढ़ने नहीं जाते? मैं उनके लिए अलग से जो पचास रुपये माहवार भेजता था...?''

''सारा धन काका मुकदमे में झोंकते रहे।'' मैं एकटक अपनी पत्नी का मुंह निहारता रहा। पत्नी कहती गयी, ''देवर के कतल के मुकदमे में अब तक तीन हजार से ज्यादा लग गया। एक हजार तो दरोगा ने लिया। नहीं तो मुकदमा ही न चलता। और एक हजार सरकारी वकील ने।''

''बस-बस, चुप रहो मनराजी, और कैफियत नहीं चाहिए।''

मैं घर से बाहर निकल आया। दरवाजे के आम के पेड़ के पीछे खड़ा निःशब्द रोने लगा। मन में उन्नीस सौ अड़तालीस से आज तक के एक-एक दिन घुमड़ने लगे। मुझे लगा मैं किसी प्राचीन कथा का अश्वमेध का घोड़ा हूं... जो इसी असमेधू गांव से छोड़ा गया था आजादी के बाद। वह गांव-गांव, शहर-शहर युद्ध-भूमियों में दौड़ता रहा। उसे किस-किसने नहीं मारा, सेठ बंकुरियामल, प्रिंसिपल साहब, दफ्तर के लोग, खोसला साहब, ये तो महज कुछ नाम मात्र हैं...पर सारा समाज... वह पूरा पचीस वर्षों का काल.... वे सारे दृश्य-अदृश्य चेहरे.... वे हाथ...उन हाथों के वे तीर-कमान.... जो इस घोड़े पर चलाये गये हैं। और वह अश्वमेध का घोड़ा यानी मैं— रामकिशोर— मानो उसी पेड़ के नीचे लौटकर आ गया है, दिग्विजय करके।

उस समय मेरे पैर थर-थर कांप रहे थे। लग रहा था, जैसे तन-मन के असंख्य घाव पुरवइया हवा में फूट पड़े हैं।

(१९६९)

रामलीला

''सुक्खी महाशय, जिंदाबाद!''

''सुक्खी, मुर्दाबाद!''

''सुक्खी महाशय जीतेंगे!''

''सुक्खी सत्यानास हो!''

''रघुराज सिंह, जिंदाबाद!''

''रघुराज सिंह...!''

''सुक्खी...!''

जनकी पंडिताइन के कानों में बहुत सारी आवाजें गूंज रही हैं। लगता है, अब भी चुनाव... एलक्सन हो रहा है। ब्राह्मण, ठाकुर, कायथ, बनिया लोग, ठाकुर रघुराज सिंह की ओर से पूरे इलाके भर में घूम-घूम कर काम कर रहे हैं। घूमघाम के सबके पास एक ही बात है— ''शूद्र ने विधवा ब्राह्मण कन्या के साथ....।''

''शूद्र सुक्खी मुर्दाबाद!''

''रघुराज सिंह जिंदाबाद !''

और वे सारे ढोल, तमाशे, गाली-गलौज, मार-पीट-झंडे, लाउडस्पीकर और वे लिच्चर जनकी के सूने घर में जैसे अब भी पलथी मार के बैठे हैं। ठीक उसी तरह, जैसे उसके पति के स्वर्गवास के बाद ब्रह्मभोज में ब्राह्मण लोग पलथी मार कर भोजन करने आये थे।

सहसा दरवाजे पर आहट हुई। बाहर निकलकर देखा– भिखमंगा खड़ा है।

"भागवान, सौभागवती रहो।"

जनकी को अच्छा लगा। भीख पा कर वह चला गया। वह बरामदे से भीतर जाने लगी, तो अचानक उसकी नजर उस नंगे पलंग से बंध गयी, जिर पर रात के अंधेरे में रघुराज सिंह आकर लेटते थे। पैर पर पैर टांग कर वह घंटों हिलाया करते। वह जनकी से कुछ कहना चाहते, पर कह नहीं पाते।

"सुनो हो पंडिताइन!"

"का है?"

"हमार मन है कि....."

"बताओ न!"

वह बात यहीं आकर टूट जाती। और वह अपनी झेंप मिटाने के लिए खैनी सुरती मुंह में झोंक लेते और चुप हो जाते। पंडिताइन दया से भर जाती। पैताने बैठ कर उनके पैरों को अंक में भर लेती और आहिस्ते-आहिस्ते दबाने लगती। आधी रात तक जनकी को अंक से बांधे पड़े रहते और फिर थके पैर घर चले जाते।

उस दिन वह शाम को ही आये। बाहर का दरवाजा खुद बंद किया और पलंग पर बैठते-बैठते ही बोले–"बात ई है कि या तो मैं राजनीति छोड़ दूं...."

"ऐसा क्यों ठाकर!"

"बात ई है कि राजनीति में हार जाने का मतलब है, मृत्यु।"

जनकी के लिए यह बात असह्य थी। ठाकुर जब पहली बार एम. एल. ए. चुने गये थे, तब उनके मुंह से निकला था– "जानकी रानी, मेरी यह विजय तुम्हारे प्रेम का आशीर्वाद है।"

जनकी एक ही साल पहले विधवा हुई थी, पर उसे उस क्षण लगा था, जैसे वह फिर सधवा हो गयी। मगर अगले चुनाव में ठाकुर बुरी तरह से हारे थे। हराने वाले थे वही सुक्खी महाशय, कौम हरिजन, गांव लोहारपुरा।

जनकी ने कहा, "हार-जीत तो लगी रहत है ठाकुर।"

मगर अब जीतना मुश्किल है– ऐसा सिद्ध किया था ठाकुर ने। सारी रात वह पलंग पर आंख खोले पड़े रहे। सुबह उनके मुंह से निकली थी वह बात– "तुम्हीं चाहो तो मुझे जिता सकती हो।" तब उन्होंने कहा– "तुम किसी तरह सुक्खी महाशय को बदनाम कर दो, बस्स!"

□□

यह सब सोचते-सोचते जनकी की सांस फूलने लगी। वह बरामदे से बाहर अपने दरवाजे पर घूमने लगी। वह उस जगह को एकटक निहारने लगी, जहां भिखमंगे ने खड़े हो कर कहा था– "भागवान, सौभागवती रहो।"

लखनऊ किधर है? वह अनुमान से पश्चिम दिशा में निहारने लगी। चुनाव जीतते ही ठाकुर सीधे लखनऊ चले गये हैं। वह वहां से आयेंगे तो....भिखमंगे की बात जनकी की आंखों में तैरने लगी।

गांव की कुछ औरतें दरवाजे से गुजरने लगीं। पंडिताइन ने बड़े स्नेह से पुकारा। एक औरत ने मुंह बिचकाया। दूसरी ने आंख मारी। तीसरी ने सरापा। चौथी ने मन ही मन गाली दी। जनकी देखती रही– वे औरतें मैदान में घास छीलने जा रही हैं। वे घूम-घूम कर इधर देखतीं और न जाने कैसे मुंह बना लेतीं। जनकी बरामदे में नीचे बैठ गयी। चुनाव के नारे अब और तेजी से उसके कानों में गूंजने लगे थे। जैसे अब भी वही चुनाव चल रहा है। वह काफी देर तक वहीं बैठी रही। फिर उसकी कमर में दर्द होने लगा। गांव में उसकी एक सहेली थी– गंगा सहुआइन। वह घर में ताला मार के उसी के पास गयी।

गंगा चौके में थी। यह वहीं पास जाकर बैठी। गंगा ने कहा, "सखी, चाय पियो।"

दोनों आमने-सामने बैठ कर चाय पीने लगीं।

गंगा ने पूछा–"लखनऊ उनके पास कब जा रही हो?"

"जैसे ही ठाकुर लौटेंगे," जनकी ने लंबा-सा घूंट पिया, "क्यों, लखनऊ घूमने चलोगी न?"

"यही तो कब से मना रही थी।" गंगा ने कहा।

जनकी चाय के प्याले को हथेली में बांधे हुए चुपचाप शून्य में देखने लगी।

गंगा चहचहाती हुई बोल रही थी, और जनकी की तपस्या और धीरज की तरह-तरह से तारीफ कर रही थी।

एकाएक जनकी के मुंह से फूटा, "सुक्खी महाशय ने कभी मुझ पर सुबहा नहीं किया।"

"उनसें बातें क्या होतीं?"

"वह बहुत ही कम बोलते।"

"उनसे तुम...?"

"हां, वह मुझे आदर देते और भगवान को याद करते।"

"तुम कितनी देर उनके घर में रहती?"

"याद नहीं।"

"क्यों?"

गंगा सहुआइन के इस प्रश्न के साथ ही, जनकी निरुत्तर रह गयी। एक ही सांस में बाकी चाय पी गयी। गंगा ने अंगड़ाई ली। आंचल जमीन पर लोट गया। हाथ की उंगलियां चुटचुटाने लगीं। आंचल जमीन पर उड़ता रहा। जनकी हंस पडी। बताने लगी— "इसी तरह सुक्खी महाशय के सामने एक बार मुझे भी अंगड़ाई आयी थी। और उन्होंने मेरा आंचल उठा कर सर पर रख दिया था। वें कुछ बोलना चाह रहे थे, मैं उन्हें देखती रह गयी थी।"

गंगा ने शरारत से पूछा, "कितनी बार महाशय ने...?"

"सच, एक बार भी नहीं।"

"राम कसम?"

"अपनी कसम।"

"पर हाय राम! पूरे गांव-जवार भर में कितनी बदनामी है महाशय की।"

"यही आज्ञा और इच्छा थी ठाकुर की।"

सखी ने आंख मार कर कहा, "गजब रे गजब!"

जनकी के मुंह पर प्रसन्नता छायी थी। वह अजब ढंग से कहने लगी रामायण की कथा— "एक ओर राम। दूसरी ओर रावण। एक अजोध्यापुरी, दूसरी लंका। कैसे हो रावण का विनाश? हां तो वही बनवास। सीता हरण!..... असली सीता राम के हृदय में, नकली सीता को ले गया अधर्मी रावण.... सत्यानास!"

भीतर सखियां कथा कह-सुन रही थीं। बाहर सहुआइन के दरवाजे पर गांव की कई औरतों की ठहाकेदार हंसी सुनाई दी। दोनों तेजी से दरवाजे पर निकल ही रही थीं कि जनकी ने गंगा का दायां हाथ पकड़ किवाड़ के पीछे ही रोक लिया।

कभी खुसुर-फुसुर, कभी धांय-धांय इस तरह औरतें बतिया रही थीं— मुंहझौंसी जनकी पंडिताइन..... सुक्खी दहिजरा कै पूत..... ससुर कै नाती ठाकुर रघुराज।

एक ने कहा, "विधवा बाभनी हो कर ऐसी करनी!"

और शेष औरतें राम-राम-राम कह पड़ीं।

दूसरी ने कहा, "ई सब दहिजरे के नाती ठाकुर ने किया— सुक्खी महाशय को हरावै बदे।"

कुछ औरतों ने च्... च्... च्... कहा और शेष ने हवा में उंगलियां फोड़ीं।

तीसरी के मुंह से निकला, "मुला, रांड को ऐसा चाहिए नहीं।"

"कीयां पड़ीं, कीयां।"

"अरे बहिनी को कहो—ऊ लखनऊ मा ठाकुर के साथ मउज करी की, ई कलयुग है कलयुग, जो जितनै अधर्म करी, उतनै फूली फली, हां नाहीं तो, कहां की बात!"

"बेचारी करै भी का—भरी जवानी, नैइया कौन पार लगावै!"

"दूसरी शादी कै लेय।"

"बाभन की विधवा, कहां मिली बाभन!"

"तो रंडी पतुरिया होई जाय।"

सारी औरतें इस पर हंसती-हंसती लोट-पोट होने लगीं। जनकी वहीं किवाड़ के पीछे धम्म से बैठ गयी और दीवार से अपना सर टिका

लिया। गंगा सहुआइन बाहर निकली, फुसफुसा कर कहा—"भीतर पंडिताइन सुन रही हैं, चुप्पै रहो, हां!"

जनकी का सारा मुंह सूख गया। उसे आशा थी, कम से कम उसकी सखी गांव की उन औरतों को डांटेगी और उन्हें दरवाजे से बाहर निकाल देगी। पर ऐसा कुछ न हुआ। बीड़ियां दगीं। बातें फुसफुसा-फुसफुसा कर होने लगीं। हंसी दांतों की किलेबंदी में घूमने लगी।

जनकी इंतजार करने लगी— औरतें दरवाजे से हटें, तब वह अपने घर जाय। सुबह से अभी तक उसने सिर्फ यही एक कप चाय पी है। उसने अपने आपको ठाकुर की याद के साथ बांधा। उसे कुछ सहारा मिला। वह किवाड़ के पीछे से आंगन में गयी। नल चला कर ताजा पानी पिया। आंख-मुंह धोया। झांक कर देखा, औरतें अब तक दरवाजे पर डटी हुई हैं। गंगा सहुआइन भी वहीं टांग पसार कर बैठ गयी है।

जनकी चुपचाप, माथा उठाये बड़ी शालीनता से बाहर निकली। उसे लगा, जैसे वह किसी सरपत की झाड़ी के भीतर से गुजर रही है। वह नीचे देखे, तो सरपत से आंख का खतरा, ऊपर देखे तो गला कट जाने का खतरा। वह तीर की तरह सीधे निकल गई। अपने दरवाजे पर आयी तो वहां उसे सुक्खी महाशय बैठे मिले। जनकी उन्हें देखते ही न जाने क्यों डर गयी। वह चुपचाप दरवाजा खोलने को बढ़ी थी, पर सहसा रुक गयी।

"नमस्ते पंडिताइन!" सुक्खी महाशय ने शायद यह तीसरी बार प्रणाम किया था।

जनकी चुपचाप खड़ी थी।

"आओ बैठो, कहां गयी थीं?"

जनकी मूर्तिवत् खड़ी थी।

"कुछ परेशान लग रही हो?"

जनकी ने सिर हिलाया।

सुक्खी महाशय बोलने लगे— "चुनाव के बाद आपने

आना-जाना ही छोड़ दिया। मैं एक बार और आया था। आप कहीं गयी हुई थीं। आपके दर्शनों की इच्छा कई दिनों से बहुत हो रही थी...."

जनकी ने बेहद ठंडे स्वर में कहा— "आपसे मेरा क्या रिश्ता?"

"एसे क्यों बोलती हो?"

"यही सच है— ठाकुर को जिताने के लिए मैंने...."

"बकने दो लोगों को, वे क्या जानें?"

"क्यों?" जनकी को बड़ी झुंझलाहट हुई।

"छोड़ो उन झूठी बातों को पंडिताइन!"

"हमार सीधे नाम लो, पंडिताइन ना कहो, हां।"

सुक्खी महाशय हंसे— बिल्कुल बुजुर्गोंवाली हंसी। जनकी को उतना ही बुरा लग रहा था। वह तरह-तरह की अनाप-शनाप बातें सोचने लगी।

सुक्खी के मुंह से फूटा— "सब आनंद-मंगल है न?"

जनकी बड़ी देर तक चुप रही— मानो यही कह सकने के लिए प्रयत्न करती रही— "हमने आपको धोखा दिया, आपको हमसे नफरत करै क चाहीं।"

"यह सच नहीं।"

"याही सच है।"

"मैं नहीं मानता।"

"फिर आप हमसे बदला लेबै बदे, ई मीठी-मीठी बतियाय रहे हैं।"

सुक्खी महाशय बिल्कुल बच्चों की तरह हंसने लगे। जनकी दरवाजा खोल कर भीतर चली गयी। सुक्खी महाशय उसी पलंग के पैताने न जाने कब तक चुपचाप बैठे रहे। धीरे-धीरे गांव के कुछ हरिजन, धोबी, भर, धरिकार लोग आये और महाशय से बातचीत करने लगे।

एक ने कहा— "साहेब, आपकैं इहै औरत हराइस।"

सुक्खी महाशय गंभीरता से बोले, "आप लोगन को ऐसा नहीं

कहना चाहिए। हार-जीत तो लगी रहती है भाई। और रही मेरी बात, मुझे तो नहीं लगा कि मैं हारा।"

सहसा एक ने कहा, "साहेब, हम शूद्रों में से इसी वजह से सबने आपको वोट नहीं दिया।"

"क्यों नहीं दिया?"

"धरम से कौन नहीं डरत साहेब?"

"कैसा धरम?"

"यही कि..."

एक सन्नाटा खिंच गया। भीतर से तमतमायी हुई जनकी पंडिताइन निकली, "चले जाओ, हमरे दरवज्जे पर से, हां नाहीं तो...." सुक्खी महाशय पलंग से उठ और सबको साथ लिये हुए गांव के बाहर निकल गये।

□□

शाम होते-होते जनकी पंडिताइन ठाकुर रघुराज सिंह के घर गयी। घर में थी ठाकुर की बुढ़िया मां और वही एक विकलांग शिशु— जिसको दादी मां ने 'जनावर' नाम दे रखा था।

जनकी की आवाज सुनते ही जनावर सुग्गे की बोली बोलने लगा— टें...टें...टें...! वह अपाहिज बच्चा खाट पर जन्म से ही पड़ा केवल चिड़ियों की बोली के जरिये अपने आपको प्रकट करता। सुग्गे की बोली का मतलब था— जनकी काकी, मेरे पास आओ— जल्दी से आओ।

पर जनकी को दादी मां ने रोक लिया। वे पूछने लगीं, रघुराज लखनऊ से कब घर लौटेगा? उसने अब तक कोई पत्र न दिया। पर यही सब तो पूछने जनकी आयी थी। उसके पास भी आज तक कोई पत्र नहीं आया। नाहीं कोई खोज-खबर। दादी मां कमर से थोड़ा झुककर चलती थीं। आज उनकी कमर और झुक गयी है— ऐसा जनकी ने अनुभव किया।

जनावर अगले महीने की पूरनमासी को पूरे दस साल का हो

जायेगा— यह दादी मां ने बताया। और यह बता कर वे इस तरह रोने लगीं, जैसे वह कुछ कह रही हों। ठीक यही रुलाई छह साल पहले उस दिन फूटी थी, जब जनावर की मां का अचानक स्वर्गवास हुआ था। तब जनकी का पति जीवित था। सारी रात जनकी ठकुराइन की लाश के सिरहाने बैठी थी। पायताने रघुराज सिंह बैठे थे। और जनावर के पास दादी मां बैठी रोयी थीं। वही रुदन आज फिर दादी मां के मुंह पर उमड़ा था। उस दिन जनकी ने जिस तरह रघुराज सिंह को सांत्वना दी थी, उसी तरह से आज वह फिर दादी मां को देने लगी थी। तब दादी मां ने कहा, "पंडिताइन बहू, तुम यहीं आकर क्यों नहीं रहती?" इस तरह से दादी मां ने पिछले सालों में न जाने कितनी बार कहा था! पर आज उनके कहने में एक अजब मर्मभेदी करुणा थी। उससे भी ज्यादा करुणा उस असहाय बालक की पुकार में थी। वह कब से लगातार सुग्गे की बोली में पुकारता जा रहा था।

"यही तो मेरा घर है मां।" जनकी के मुंह से निकला।

"तो यहीं रहो न!" दादी ने कहा।

"ठाकुर के आते ही..."

"कोऊ चीठी आयी है?"

"नाहीं।"

जनकी समझाने लगी— स्वयं को भी और माई जी को भी। ठाकुर फिर से एम. एल. ए. हुए हैं। पहली ही बार अभी लखनऊ गए हैं। वहां बहुत व्यस्त होंगे। जाते समय मिल तक नहीं पाये। वे एक बार कह रहे थे— सब लोग कुछ दिन लखनऊ ही रहेंगे। जनावर को वहां अस्पताल में भर्ती कर दवा-उपचार करायेंगे।

जनावर एकाएक चुप हो गया था। जनकी दौड़ी हुई उसके पास गयी। वह पड़े-पड़े ही पेशाब करने लगा था। जनकी ने उसे अंक में उठा लिया। पास में रखी बाल्टी पर उसे झुका दिया। पेशाब करने के बाद वह टट्टी करने लगा। दादी माई आकर बताने लगीं— "तीन दिनों से उसने टट्टी नहीं की थी।" अब दादी से जनावर उठाया नहीं जा पाता।

जनावर को उसने नहलाया-धुलाया। नये कपड़े पहनाए। जैसे ही बिस्तरे पर लिटाया, वह गौरैया चिड़िया की बेहद मीठी बोली बोलने लगा— चुंचूं..... चूं..... चुंचूं चुंचूं चूं!

दादी हंस पड़ीं। कितने दिनों बाद वह यह बोली बोला था। मां जब जीवित थी, तब उसी से यह बोली बोलता था, अर्थात्— मां, तुम कहां थीं! कब से तुम्हें याद कर रहा हूं।

जनकी को भी याद है— जब उसे भूख लगती, तब वह पालतू तोते की तरह बोलता—पट्टू! टांय...टांय ! और जब उसे टट्टी लगती, तो वह कौए की बोली बोलता— कांव... कांव!

पर आज वह क्यों नहीं बोला और चुपचाप बिस्तरे पर ही पेशाब करने लगा— "क्यों रे भइया, तू बोला काहे नाईं?"

"तुम आयीं काहे नाईं?"

फिर दोनों की हंसी उस सूने घर में प्रकाश की तरह डोल गयी।

जनकी ने भोजन बनाया। दादी माई के लिए बेसन की कढ़ी और भात। जनावर के लिए खीर-पूड़ी। दोपहर से एक पहर रात तक उस घर में ऐसा सुखद समय बीता, जैसे कोई मनमोहक स्वप्न हो, जिसके लिए कहीं कोई सबेरा नहीं चाहिए।

जनकी पंडिताइन को फिर भी घर जाना चाहिए ; वह जनावर को तरह-तरह के वचन दे कर, उसकी सहमति से घर जाने लगी, तभी दादी मां की वही रुलाई फिर फूटी, जिसके सामने जनकी के पैर आगे न बढ़ सके।

सुबह तड़के उसके कंठ से एक गीत फूटा—

कैसे दिन कटिहैं, जतन बताये जाव
कैसे दिन बितिहैं...?

गाते-गाते उसका कंठ एकाएक बैठ गया। यह भजन तो सुक्खी महाशय गाते थे। जब-जब वह उनके घर में रात में रुकी है, सुबह दूर से उसने यही स्वर सुना है। महाशय के कंठ में कैसी कंपकपी होती थी!

दादी मां ने टोका— "बहू, काहे गाना रोक दिया?"

"अब घर जाऊं माई जी!"

□□

अपने घर पहुंची, तो देखा उसी नंगे पलंग पर सुक्खी महाशय पड़े सो रहे हैं। उन्हें देख न सकी और घर में भी न घुस सकी! बंद ताले को छुआ और जैसे डर गयी। बरामदे से बाहर निकल आयी। क्वार अभी-अभी बीता है। कातिक शुरू हो गया है। आसमान इतना साफ और धवल है। जनकी को लग रहा है, कहीं बादल गरज रहे हैं। वह अपने दरवाजे से भागी, जैसे कोई उसका पीछा कर रहा है। गांव से बिल्कुल पश्चिम दिशा में बढ़ आयी। उस लंबे-चौड़े मैदान में, जहां रामलीला होती है। उसने देखा, रामलीला शुरू भी हो गयी है। पश्चिम ओर है अयोध्या—पूरब ओर है लंकापुरी। शायद अब तक धनुषयज्ञ हो चुका है। कल ही शाम। पूरे मैदान भर में इधर-उधर फूल बिखरे हैं। जगह-जगह आम के पत्ते पड़े हैं। पीपल के नीचे रावण की ठठरी बननी शुरू हो गयी है। कुछ हरे-हरे बांस पेड़ की डालियों के सहारे खड़े किए गए हैं। इन्हें चीर-चीर कर लंबी-लंबी धज्जियां बनायी जायेंगी और इनसे रावण का विशाल पुतला बनाया जायेगा।

दोपहर तक जनकी उसी पीपल के नीचे बैठी घूमती रही। एक क्षण उसे लगा, रावण की उस ठठरी के पीछे सुक्खी महाशय चुपचाप खड़े हैं। वह वहां से तत्काल हट आयी। मैदान को पार करती हुई वह सोचने लगी— तभी हर साल रावण जला दिया जाता है। पर फिर उसे क्यों बनाते हैं? यही दिखाने के लिए कि पर-स्त्री से प्रेम करने वाले की यही सजा है!

जनकी को अकस्मात् हंसी आ गयी। वह जब घर पहुंची, तो सुक्खी महाशय वहां से जा चुके थे। वह न जाने क्यों, अंदर न गयी। उसी पलंग पर बैठ कर दरवाजे में लगे ताले को निहारने लगी।

ठीक चौथे दिन उसे खबर लगी— ठाकुर रघुराज सिंह लखनऊ से आ गये। उस दिन गांव की रामलीला में सीताहरण था। वह सारा दिन ठाकुर की राह देखती रही। उसने सुना, शाम को रामलीला में ठाकुर का भाषण होगा। वह रामलीला मैदान में गयी। मंच के ठीक सामने कुछ दूरी पर बैठ कर वह ठाकुर का भाषण सुनने लगी। ठाकुर बड़े ही धार्मिक विश्वास से बोल रहे थे— "हमारे समाज में हर स्त्री को सीता की तरह

होना चाहिए। सीता का चरित्र वह प्रकाश है, जिसकी आग में रावण जल कर भस्म हो जाता है।"

जनता ने जय-जयकार स्वर में कहा– "ठाकुर रघुराज सिंह जिंदाबाद ! रावण मुर्दाबाद!"

और जनकी ने देखा, कितनी आंखें उसे नफरत से घूर रही हैं। हवा में कुछ गालियां भी उड़ने लगीं। कुछ हंसी, कुछ मजाक और कुछ मर्माहत कर देनेवाली बोलियां। जनकी फिर भी ठाकुर को निहारती हुई बैठी रही। ठाकुर साहब के उठने से पहले वह उठी और सीधे अपने घर चली आयी। दिया जला कर वह घर में राह देखती रही।

ठाकुर नहीं आये।

अगले दो दिनों तक नहीं आये।

अंत में वह ठाकुर के घर गयी। ठाकुर उसे देखते ही सूख गये। न जाने किस बात पर बूढ़ी मां पर बरसने लगे। जनकी से न रहा गया। वह ठाकुर के सामने जाकर बोली, "का बात है ठाकुर?"

वह इधर-उधर की न जाने क्या-क्या बातें करने लगे, जिसे न जनकी समझ पा रही थी, न शायद ठाकुर स्वयं।

जनकी ने फिर वही दुहराया– "ठाकुर, का बात है?"

वह बोले, "तुम 'मिडवाइफ' की ट्रेनिंग कर लो। मैं इंतजाम करा दूंगा।"

जनकी की समझ में कुछ न आया। और ठाकुर आगे कुछ न बोले.... न कुछ पूछने-कहने का मौका ही दिया। बस, जनावर की बोली सुनाई देती रही– "पट्टू, टांय-टांय..... टांय!"

□□

जनकी घर चली आयी। पर घर उसे सांप की तरह डंसे जा रहा था। वह सुबह-सुबह ही ठाकुर के पास गयी। वह कुछ कह सके, इसके पहले ही ठाकुर ने कहा, "बात ई ह पंडिताइन, अब मैं तुमसे क्षमा चाहता हूं। तुम हो अब एक बदनाम औरत...!"

जनकी के मुंह से एक चीख निकली, पर उसने दबाते हुए कहा, "पर तुम तो मुझे जानते हो...मैं तुम्हारे लिए....!"

"हां, वह तो ठीक है, पर जनता के सामने....ई है कि मुझे तो अब जनता को ही देखना है।"

जनकी भाग कर जनावर के पास आयी और उसे अंक में भर लिया। उसके कपड़ों में टट्टी लगी थी और बेतरह की बदबू से हवा जैसे भर गयी थी।

जैसे-जैसे वह जनावर को नहला-धुला कर साफ कपड़े पहना रही थी, वैसे-वैसे ही ठाकुर का गुस्सा मां पर भारी पड़ता जा रहा था– तरह-तरह के बहानों से। डांटते हुए उनकी आवाज कांप उठती थी। जब चुप हो जाते, तो लगता, वह निःशब्द बोल रहे हों। दादी माई की वही रुलाई सुनाई दी और जनकी उस घर में से बाहर भागी। जनावर पपीहे की बोली में बोल उठा– "पी कहां? पी कहां?"

दरवाजे तक दौड़ती आयी। अमराई में जाकर उसे लगा, वह सांस नहीं ले पा रही है। पेड़ के सहारे खड़ी होकर दम मारने लगी। फिर तेज कदमों से अपने घर जाने लगी। अचानक पीछे से ठाकुर की आवाज गूंजी– "पंडिताइन, बुरा मान गयीं.... तुम जानती हो, राजनीति की दुनिया कितनी बेबुनियाद होती है। जरा-सी बदनामी उसे ले डूबती है। जनता भेड़ की तरह है... वह न सुनती है, न देखती है, बस चल पड़ती है। मेरी बात सुनो... सुनो तो मजबूरी...."

पंडिताइन ने मुड़ कर पीछे न देखा। अमराई को पार कर गयीं। अमराई के आखिरी पेड़ के पीछे ठाकुर छिपकर अब भी कुछ बोलते जा रहे थे। उनकी हिम्मत न हो रही थी, वह आगे बढ़ कर जनकी को कुछ समझाते। खेतों में इधर-उधर किसानों के हल चल रहे थे। कहीं एक भी किसान ठाकुर को जनकी पंडिताइन के साथ देख लेता तो....!

जनकी तेजी से ठाकुर के गांव का सिवान पार कर रही थीं। सिवान के अंत पर वही गड़ा हुआ पत्थर, उस पर अब तक गेरू से लिखा हुआ था– ठाकुर रघुराज सिंह जिंदाबाद!

ठाकुर रघुराज सिंह को वोट दो!

चरित्रहीन सुक्खी का मुंह काला!

जनकी ने अपने गांव के सिवान में पहुंच कर आंचल से अपना मुंह सुखाया। ऊंची मेड़ पर सुंखनी चिड़िया गला फाड़-फाड़कर बोल रही थी– सुभान तेरी कुदरत! सुभान तेरी कुदरत!

अगले खेतों में खंजन के जोड़े फुदक रहे थे। उसके दिमाग में आ रहा था– औरत की दुनिया कितनी बेबुनियाद होती है। जरा-सी बदनामी उसे ले डूबती है... समाज भेड़ की तरह है। यह सब जैसे वह पहले नहीं जानती थी। जैसे मानो ठाकुर को भी पहले से नहीं जानती थी। पहले से कौन किसे जानता है?:... चाहे कितने दिन एक साथ क्यों न रहे हों! चाहे कुछ भी हुआ हो....!

जनकी अपने घर में आकर बाहर की दुनिया से बिल्कुल बंद हो गयी। भीतर से घर में ताला लगा लिया। रोज सुबह-शाम सुक्खी महाशय आकर बंद दरवाजे पर दस्तक देकर चले जाते।

□□

उस दिन गांव की रामलीला में रावण जलने को था। सुबह से ही मैदान में दौरी-दफला, ढोलक-ताशें बजने शुरू हो गये थे। उन आवाजों में ऐसा लगता, जैसे राम और रावण की सेनाएं आपस में लड़ रही हैं।

बढ़ कर उसने घर खोल दिया। पूरा घर न जाने कितने दिनों बाद झाड़ना-बुहारना शुरू किया। कूड़ा-करकट का इतना ढेर यह कहां से आ जाता है? आंगन, चौके को गोबर-माटी से लीपा। आंगन में तुलसी चबूतरे को धोकर फिर कहीं स्नान करने बैठी।

नये वस्त्र पहन कर चौके में गयी और भोजन बनाने लगी। उसे एहसास नहीं कि सुबह से अब तक शाम हो आयी है। पर सूरज नहीं डूबा है। चौके से निकल कर ऊपर मुंडेर पर देखा– आखिरी घाम का टुकुड़ा वहां दुबक कर बैठा है।

तभी दरवाजे पर सुक्खी महाशय की आवाज सुनाई दी। जनकी ने कहा, "भितरी चले आवो महाशय!"

महाशय दहलीज में मूर्तिवत् खड़े थे। उनके पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे।

जनकी ने आंगन से पुकारा, "चले आवो न!"

दहलीज से दुबारी, दुबारी से भीतर के आंगन में आते-आते सुक्खी महाशय को कितना समय लग गया! वह अब भी आंगन की दीवार थामें खड़े थे।

जनकी ने कहा, "चले आवो चौके में!"

पीढ़ा रख दिया। एक लोटा पानी और खाली गिलास। सुक्खी महाशय चौके में पैर रखने से उसी तरह सहम गये थे, जैसे किसी अपरिचित के पास जाने से अबोध शिशु सहम जाता है।

जनकी ने बांह पकड़ कर सुक्खी महाशय को पीढ़े पर बिठा दिया। सामने थाली परोस दी! बड़ी देर बाद महाशय ने आंख ऊपर उठायी। देखा, जनकी के हाथ में पंखा डोल रहा है।

रामलीला मैदान में सहसा शोर उभरा। तमाम बाजे-गाजे बजने लगे। जै-जैकार से हवा में जैसे लहरें उभरीं। अब रावण का पुतला जलाया जा रहा था।

(१९७०)

गगन महल

जोगियों का मौन व्रत कोई डेढ़ बजे खत्म हुआ।

मोतीदास को उतनी-सी साधना कुछ भी न लगी। आज से केवल पांच वर्ष पूर्व, अपनी बीस वर्ष की अवस्था में, मोती ने पूरे एक वर्ष का मौन-व्रत धारण किया था।

यहां जोगी-जमात के साथ केवल उस चौबीस घंटे के मौन-व्रत ने उसका मन उबा दिया। कहने को मौन-व्रतधारी, पर सब-के-सब कूं-कूं, हूं-हूं करके आपस में खूब बातें करते, और लगातार गांजा-चरस की चिलम फूंकते रहे थे।

मगहर से उत्तर, कठिनइया नदी के किनारे, एक टीले पर उन जोगियों का मठ था। चैत लगते-लगते कठिनइया बिल्कुल सूख जाती थी, इसलिए जिस रात गांव में होलिका जलती थी, उसी रात को मठ में जलती हुई धुईं छोड़कर, जोगी अपने गुरु महाराज के साथ चलकर मनवर और कुआनो नदी के संगम, लालगंज पहुंच जाते। दो-चार रात लालगंज के श्मशान घाट पर बिता कर वे कुआनो नदी पार कर गोसाईंपुरवा की ओर चले आते थे और शंकरजी के उस टूटे-से मन्दिर के पास, नीम के पेड़ के नीचे, उनकी धुईं रम जाती थी।

गुरु महाराज को छोड़कर कुल तीन जोगी थे। बड़े जोगी का नाम तारानाथ था, जिसने पिछले पांच वर्ष से अन्न और नमक का त्याग कर

रखा था। दूसरा जोगी चन्द्रनाथ था, जो गत चार वर्ष से कभी बैठा नहीं था और तीसरा जोगी मौनीदास था, जो पिछले दो वर्ष से मौन व्रत लिये था।

गुरु महाराज का तेज अपार था। मजाल क्या कि कोई उनसे अपनी आंख मिला ले! किसी की आंख उनसे मिली नहीं कि वह अपना सिर पीटता हुआ अपने सारे पाप एक सांस में उगल दे। हर नवरात्र में एक बार, वह अपना सिर काटकर देवी के सामने रख देते थे। अद्‌भुत प्रताप था उनका! धुईं से एक चुटकी राख जिसको मन भर गाली देकर दे देते, उसकी सारी मनोकामना पूर्ण! अपूर्ण सिद्धि प्राप्त थी गुरु महाराज को। जिसको जो कह दिया, वह सोलहों आने सत्य!

गुरु महाराज की वही शक्ति, वही सिद्धि प्राप्त करने वहां मोतीदास आया था।

चैत की नवरात्र का वह पहला दिन था। सामूहिक मौन-व्रत की समाप्ति के बाद जोगियों ने भोजन किया।

मौनीदास ने नीम की डाल पर रस्सी का झूला डाला। नीचे देवीचन्दन की लकड़ी बांधकर उस पर मोतीदास ने अपने अंगरखे और अंचले को तह बनाकर रख दिया, और उनको लाल गोट से चन्दन की लकड़ी में कसकर बांध दिया।

जोगी का झूला हवा में तैर गया।

उधर सूर्यास्त हो रहा था। वही क्षण था मोतीदास की कठोर साधना के प्रारम्भ का।

मोतीदास ने उसी घड़ी परम सिद्धि के लिए, शून्य में समाधि और गगन महल में पहुंचने के लिए हठजोग आरंभ किया था। कमर में मूंज की करधनी, लोहे की सिंकड़ा का लंगोट, बदन-भर में भभूत, माथे पर गुरु महाराज का तिलक-टीका।

इस जोगी-रूप मे मोतीदास ने गुरु महाराज के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया; उनके पैर के नाखूनों को अपनी आंखों से स्पर्श किया। फिर तीनों शिष्य जोगियों की चरण-धूलि को अपने माथे चढ़ाया।

उधर आम के बाग के पीछे उस दिन का सूरज डूबने लगा और देवीमंत्र-गान प्रारंभ किया। मोतीदास निश्चल, अपने दोनों पैरों पर

खड़ा, हाथ जोड़े,आंख मूंदे शक्ति की आराधना करने लगा। उस समय लालगंज, गोसाईंपुरवा और आसपास की बहुत सी श्रद्धालु जनता वहां मोतीदास के दर्शन के लिए आ खड़ी हुई थी। इस क्षण से यह मोतीदास, यह पच्चीस वर्ष का नौजवान, जो इस भांति अपनी दाढ़ी-मूंछ रखकर परम वैरागी हुआ है, अनवरत खड़ा ही रहेगा। गुरु महाराज ने दर्शकों के सामने मोतीदास को उपदेश दिया, "सुनो मोतीदास! आतमा को शून्य में करके और शून्य को आतमा में करके तुम सच्चे जोगी बनने का प्रयत्न करो! शून्य अर्थात् समाधि, जिसे प्राप्त करके तुम्हारी आत्मा गगन महल में पहुंच जायगी, वहां उसे अमृत रस पीने को मिलेगा।" सारी उपस्थित जनता इस तरह मंत्रमुग्ध होकर गुरु महाराज के उस आदेश को सुन रही थी, जैसे उस वाणी का पूरा मर्म मिल रहा हो।

और मोतीदास! उस पर तो गुरु का शब्द सीधे डाला ही जा रहा था। आंख मूंदे श्रद्धानत वह मानो गगन महल की सीढ़ियों पर गुरु-कृपा की डोर पकड़े चढ़ा जा रहा था।

मोतीदास गुरु के उस उपदेश का अर्थ नहीं समझ पा रहा था। पिछली बार भी उसने अर्थ नहीं समझा था। किन्तु इस बार उसे गुरु की वाणी की महिमा अवश्य अनुभव हो रही थी।

रात सोने से पूर्व गुरु महाराज ने मोतीदास से फिर कहा, "सुनो बेटा मोतीदास! अब तुम्हारा जोग चूंकि शुरू हो गया है, इसलिए मैं तुम्हें सचेत करता हूं। आज से ठीक तीन वर्ष पूर्व तुम्हारी ही तरह एक जोगी यहां यही हठजोग करने आया था। तुम्हारी तरह उसके दाढ़ी-मूंछ नहीं थीं, किन्तु था वह भी बड़ा तेजवान..... हुआ ऐसा कि चौबीस घंटे भी उसे खड़े नहीं बीते थे कि वह रात के पिछले पहर यहां से एकाएक कहीं गायब हो गया। प्रातःकाल उसे यहां न देखकर मेरे ये शिष्य जोगी बहुत दुखी हुए, किन्तु मुझे उस ग़रीब पर बहुत हंसी आई। ऐसे ही लोगों को देखकर मेरे गुरु महाराज अक्सर चेतावनी देते हुए कहा करते थे—

जोग दुहेली शक्ति की, नहिं कायर का काम,
सीस उतारै हाथि करि, सो जोगी बड़ नाम!

"कायर और जोगी!"— यह कहते हुए मोतीदास के गुरु महाराज खिलखिलाकर हंस पड़े।

मोतीदास को लगा कि गुरु महाराज की हंसती हुई आंखें उसे पकड़ने को दौड़ रही हैं। अभी उन आंखों से मोती की आंखें मिली नहीं कि वह अपना सिर पीटता हुआ अपने पाप को उगल देगा। तब क्या होगा? 'गुरु से कपट मित्र से चोरी; कि होय निर्धन, कि होय कोढ़ी!' मोतीदास की आंखों से निःशब्द आंसू ढलने लगे। उसने फफककर कहा, "अब मैं आपसे नहीं छिपाऊंगा। वह कायर जोगी मैं ही था महाराज! अपने को आपसे छिपाने के लिए ही मैंने दाढ़ी-मूंछ बढ़ा रखी हैं। सोचा था, यह मैं आपसे तब बताऊंगा, महाराज, जब मुझे सिद्धि प्राप्त हो जायगी। पर यह कपट है, और कायरता भी। मुझे क्षमा कीजिए, महाराज जी, मुझ पर कृपा कीजिए!"

शेष जोगी आश्चर्यचकित होकर मोतीदास की ओर देखने लगे, किन्तु गुरु महाराज ने बड़े प्रेम से बढ़कर मोतीदास को अपने अंक में भर लिया।

आधी रात का समय। सब सो गए। जोगी चन्द्रनाथ भी अपने झूले के सहारे खड़ा-खड़ा ही सो गया— झूले के पीढ़े पर अंक से लिपटा हुआ, हाथ में डोर पकड़े, पैर धरती पर जमाए हुए। किन्तु मोतीदास अपने झूले से दूर खड़ा उसे देख रहा था। उसकी आंखों में ज़रा भी नींद न आ रही थी। पछुआ हवा बह रही थी। उसकी गति से मोतीदास का हल्का-सा झूला अपने-आप नाच उठता था।

यह झूला मोह है। इसे छूकर मैं निर्बल हो जाऊंगा। मोह जोगी का शत्रु है, माया ठगनी का भाई है यह।

मोतीदास ने झूले की ओर से अपना मुंह फेर लिया और ठीक पश्चिम की ओर देखने लगा। दिशाओं में रात का सूनापन भर चुका था। कहीं भी कोई दीपक नहीं जल रहा था कि जिसे देखते हुए वह खड़ा रह सके। गुरु महाराज ने उपदेश दिया है, आत्मा को शून्य में करके और शून्य को आत्मा में करके तुम सच्चे जोगी बनो, मोतीदास!..... पर शून्य क्या है? और यह आत्मा क्या है, गुरु महाराज? शून्य में आत्मा..... और आत्मा में शून्य?

गुरु महाराज कब के सो गए थे। मोतीदास ने अपने पूरे आत्मबल से स्वयं से पूछा— शून्य क्या है, मोतीदास? यह आत्मा क्या है? बोल मोतीदास! आत्मा में शून्य.....

मैं क्या बताऊं जोगी? मेरा नाम मोती शुकुल है, कुलीन ब्राह्मण, उच्च परिवार। तीन बार हाई स्कूल में बैठा, पर हमेशा फेल होता रहा। मेरा बभनौली गांव, परगना नगर, जिला बस्ती। सारे गांव में शुकुल ब्राह्मण, शेष घर गौतम ठाकुर। गांव के पश्चिम में दुर्गा का मन्दिर, पूरब में कुआनो नदी, उसके तट पर भैरों का खंडहर। मां का मैं इकलौता पूत... मां मेरी सफलता के लिए दुर्गा जी, भैरों बाबा की पूजा के लिए घर से बाहर जाना चाहती थी, लेकिन गांव में कितना परदा! और मेरे पिताजी कितने क्रोधी, कट्टर! मुझे गाली, मार और मां की फजीहत। मां रो-पीटकर चुप हो जातीं। पिताजी दरवाजे पर बैठे हुए दिन-रात खैनी फांकते और आल्हा गाते। तीसरी बार भी जब मैं इंट्रेंस में फेल हो गया तो उसी जून के महीने में पिताजी ने गुस्से में आकर मेरी शादी कर दी, चेंचाई के मिसिर के घर। इतने बड़े मिसिर की कन्या मेरी धर्मपत्नी! मैं अपने मुंह से क्या नाम लूं उसका। जैसा सुन्दर रूप वैसा ही गऊ-स्वभाव, वैसा ही नाम—गंगोत्तरी। पतोहू का मुंह देखते ही मां ने कहा, मेरे बेटे की साक्षात् लक्ष्मी आ गई! पिताजी ने कहा, कायर पूत!.... निर्बुद्धि... न हाईस्कूल न संस्कृत का ज्ञान, ऐसे अयोग्य के हाथ लक्ष्मी भी मिट्टी हो जाएगी।

मैं कई बार घर से भागा, पर कहीं ठौर न लगा। घर पर पिताजी के मारे रह नहीं सकता था। मां मेरे लिए रोती थीं। गऊ पत्नी सदा चुप रहती थी—घर के भीतर बन्द, घर में भी परदा, परदे में घूंघट। बभनौली गांव का ऐसा चलन ही था। गांव में उस साल चेचक की बड़ी तेज बीमारी फैली। भगवती ने मेरे घर में सबको छोड़कर केवल मां को उठा लिया, जैसे भगवती ने भगवती मां को अपने संग कर लिया। मां की आत्मा मेरे लिए प्यासी ही चली गई। न नाती का मुंह देखा, न मेरी कोई सफलता। मेरे बड़े भाई इन्दर सुकुल खेती-बारी का सारा काम अपने सबल हाथों में संभाले हुए थे। उधर हर दूसरे साल भौजी के बच्चा पैदा होता था। मेरा छोटा भाई कैलाश इस साल हाई स्कूल

सेकंड डिवीजन पास हो गया, अब उसे इंटर पढ़ने बस्ती जाना था। पिताजी मुझे देखते ही कैसी कटुता से कहते— 'सकल पदारथ यहि जग माहीं, कर्महीन नर पावत नहीं।'

कैसा नर? कैसा कर्म?

मैंने ईश्वर की भक्ति की, शक्ति की उपासना की, हठयोग किया। अन्न-त्याग, वाणी-त्याग कर देखा। ऐसे सिद्ध पुरुष गुरु की शरण आया। गुरु ने बताया, शून्य माने ओंकार। और उस ओंकार में पांच खण्ड, पांचों में पांच शक्ति-देवता। तारक में ब्रह्मा, दण्ड में विष्णु, कुण्डली में रुद्र, अर्धचन्द्र में ईश्वर और सबसे ऊपर वाले बिन्दु में सदाशिव का वास। पर मेरी समझ में कुछ नहीं आया। मैं समझना चाहता था। शब्द की चोट मेरे भीतर लगती थी, पर कहां लगती थी, क्या लगती थी, मैं उसे पकड़ नहीं पाता। फिर मैं भागा; कहां, क्यों भागा, मैं कुछ नहीं जानता। कुछ नहीं, कुछ नहीं!...

रात्रि के उस पिछले पहर में, अचल, अवलम्बहीन अपने पैरों पर खड़े हुए जोगी मोतीदास ने अपने-उस मोती शुकुल से कहा, "सुनो मोती, तुम दुविधा की थूनी पर माया की बढ़ेर रखकर मोह का छप्पर डालते हो, तभी तुम्हारी संकुचित डरी हुई आत्मा उस घर के मिट्टी के बरतन में बन्द रह जाती है। तुम ज्ञान की आंधी और विवेक की अग्नि से अपने उस झूठे घर में आग लगा दो; फिर देखो— गगन महल तुम्हारे सामने है।"

मोतीदास के हठजोग का आज चौथा दिन है। उसके सारे शरीर में जलन फैली हुई है। सिर मानो उसके शरीर में नहीं है, और कभी उसे ऐसा लगता है, जैसे वह केवल सिर-ही-सिर है— घूमता हुआ, वजनी, बहुत भारी। जोगी मौनीदास ने मोती के सिर पर आज गीली मिट्टी थोप दी है, शरीर-भर में पोतनी मिट्टी लगा दी है, और बार-बार उसे पानी पिलाता है। दूसरा जोगी चन्द्रनाथ, जो गत चार वर्ष से कभी बैठा नहीं है, जिसका जोग अखण्ड है, मोतीदास से कहता है, "लो, तुम गांजा पिओ। जोगी को पहले अपना शरीर जलाना होगा। इसमें आग लगाकर एकदम स्वाहा कर देना होगा, वरना इस शरीर के पोंछे से आत्मा उड़ कहां पाएगी! शरीर व्याधि-भंडार है, मोह-माया-सागर

है। इसे फूंक दो, मोती! देखो न, सभी जोगी तो हरदम चिलम की अग्नि से अपने को फूंकते रहते हैं। गुरु महाराज तक पीते रहते हैं। हर बार आम की पत्ती की नयी चिलम और नयी अग्नि। बम शंकर! शक्ति महादेवी! आठहू पहर मतवाल! आठहू पहर की झाक!"

"नहीं, नहीं, मैं चिलम नहीं पिऊंगा।"

"फिर क्या करेगा?"

"जोग करूंगा, सिद्धि प्राप्त करूंगा।"

"बिना शरीर फूंके?"

शरीर को फूंकूंगा, पर गांजा-चरस से नहीं, तप से, उपवास से, संयम से।"

"मोतीदास, तेरी कुंडलिनी, सुषुप्त है।"

"यह सुषुप्त क्या है? मुझे बताओ, चन्द्रनाथ! नहीं बताओगे?... कि जानते ही नहीं?"

नवरात्र बीत गया। चैत्र पूर्णमासी को लालगंज का मेला लगेगा, झकझोर मेला, तीन दिन, तीन रात का मेला। गोरखपुर से लेकर गोंडा, बहराइच, लखनऊ तक की दुकानें आएंगी। इधर उत्तर बांसी से लेकर दक्षिण टांडा, अकबरपुर, फैजाबाद तक के लोग आयेंगे। लालगंज के चारों ओर दस कोस की परिधि के सारे गांवों की स्त्रियां, मर्द, बच्चे, बूढ़े, जवान मेला देखने आयेंगे। सारा बभनौली गांव इसमें टूट पड़ेगा। कम से कम दस परदेदार-ओहार डली गाड़ियां मेले में आयेंगी।..... मोतीदास की धर्मपत्नी को भला कौन लाएगा? वह नहीं आएगी। पिता जी आ सकते हैं। हो सकता है, मोतीदास के बड़े भैया इन्दर शुकुल भौजी को लेकर आएं। पर कठिन ही है, कारण, पिताजी की कट्टरता और क्रोध के सामने वे बेचारे क्या पैर बढ़ा पाएंगे?

शरीर की जलन तो थी ही। आज मोतीदास के पेट और कलेजे में जैसे जलता हुआ तवा रखा हुआ हो। सारे पेट में मरोड़, सारी नाड़ियों को भीतर-ही-भीतर जैसे कोई गार रहा हो। चों-चों का स्वर यह कैसा वायु-प्रकोप है! मोतीदास को विह्वल देख कर बड़े जोगी, तारानाथ ने उसे स्नेह से छूते हुए कहा, "तुम्हारी साधना अब सफल है। समाधि

तुम्हारी लग चुकी है। समझो, यह तुममें अनहद नाद हो रहा है। भाग्यवान हो तुम, मोती!"

"अनहद नाद यही है?" मोती ने पूछा। सारे जोगियों ने उसका समर्थन किया। मोतीदास का मुख तिक्त हो रहा था। उसने चिल्ला-चिल्ला कर कहना चाहा, झूठ है।... झूठ है यह! पर मोतीदास ने अपने-आपको संभाल लिया। बड़ी देर तक वह झूले पर अपना जलता हुआ माथा टेके हुए चुपचाप खड़ा रहा। एकाएक उसने जोगियों से पूछा, "अनहद नाद क्या है?"

जोगी तारानाथ मोतीदास पर झल्ला उठा। गुरु महाराज से शिकायत हुई—इस मोतीदास को क्या हुआ है? हर चीज़ को पूछता है, क्या है? क्या है? अब अनहद नाद को भी पूछता है, क्या है यह?"

गुरु महाराज ने पूछा, "मोतीदास, तुम क्या हो?"

"मैं नहीं जानता महाराज! यही तो मैं जानना चाहता हूं कि मैं क्या हूं।"

इसे तब तक कोई नहीं जानता, जब तक वह अपने शरीर से ऊपर शून्य में समाधि न लगा ले। जब जोगी गगन महल में पहुंचेगा तो उसके सारे प्रश्न अपने आप उसी क्षण हल हो जायेंगे।"

"गगन महल क्या है?"

"चुप रहो!"

"अनहद नाद क्या है?"

"समझने की कोशिश करो!" गुरु महाराज ने लाल-लाल आंखें दिखाकर कहा, "कुण्डलिनी जब ऊपर उठती है तब उससे 'नाद' हो जाता है। वही तुममें हो रहा है। नहीं समझे? सुनो! अर्थात् जो नाद समूचे संसार में अनाहत रूप से हो रहा है, जब वही तुम्हारे भीतर हो रहा है, तब उसी को....."

"इससे क्या होगा?"

"सुनो! खबरदार! गुरु की आज्ञा है, अब तुम चुप हो जाओ।" लालगंज का मेला चैत की पूर्णमासी को है। आज से चार ही दिन और हैं। तीनों पार मेले की तैयारी पूरी हो चुकी है। तीनों ओर तीन

थानेदारों की ड्यूटी लग चुकी है। हजारों की संख्या में बीस-बीस कोस पैदल चलकर भिखमंगे इकट्ठे हो गए हैं। कितने साधु, कितने लूले-लंगड़े; कोढ़ी-अपाहिज! बस्ती जिले का कलक्टर इस बार खुद मौजूद रहेगा मेले में, यह खबर सारे जवार में फैल चुकी है। इस साल भेड़े लड़ेंगे, कलक्टर इनाम बांटेगा। बैलों का कम्पटीशन होगा। बिरहा और फाग की बट्टी होगी; हर जीतने वाले को इनाम मिलेगा। और इस साल मेले में लाठियां नहीं चलेंगी। बहू-बेटियों को कोई जबरदस्ती भगाकर नहीं ले जा सकता। जादू-टोना करने वाले भी पकड़े जायेंगे, हां!

अगले दिन मोतीदास का पेट शान्त था, पर उसके दोनों पैर थर-थर कांपने लगे थे। वह झूले की रस्सी को मज़बूती से पकड़े हुए था।

"अब क्या होगा गुरु महाराज? लगता है, अब बेहोश होकर गिर जाऊंगा।"

"नहीं बेटा मोतीदास, धैर्य रखो! तुम्हारी सिद्धि समीप है। शरीर का सहारा लेकर माया तुम्हें ठगना चाहती है। पर जोगी की साधना भंग न होगी, विश्वास दृढ़ करो मोती! तुम्हारे भीतर का 'नाद' अब बन्द हो चुका है। इसका अर्थ यह है कि तुम गगन महल की आधी सीढ़ियां पार कर चुके।"

"कैसे महाराज?"

"बेटा मोती, जैसे-जैसे मन शुद्ध, स्थिर माया-रहित होता है, वैसे-वैसे इन शब्दों का सुनायी देना बन्द हो जाता है।"

पता नहीं महाराज, मेरे तो पैर थर-थर कांप रहे हैं। लगता है, बेहोश होकर गिर पड़ूंगा।"

"घबराओ नहीं, हम ऐसा नहीं होने देंगे। इसका उपाय है।"

संध्या-समय जोगी चन्द्रनाथ के निर्देश पर जोगी तारानाथ ने मोतीदास के दोनों पैरों में चारों ओर से, पंजे से लेकर जांघ तक कड़े बांस की खपच्चियां बांध दीं, ऐसे कि कोई बैठ ही न सके।

अगले दिन सुबह होते ही जोगियों ने देखा मोतीदास नीचे, जमीन पर बिल्कुल चित गिरा हुआ था। उसका पूरा शरीर जल रहा था। आंखें बन्द थीं, दोनों हाथ निर्जीव-जैसे लग रहे थे।

उधर लालगंज के मेले में यात्री आने शुरू हो गए। फकीरों के डफले बजने लगे। भिखमंगों की खंजड़ी चटक उठी। चारों ओर ढोल ढमकने लगे। औरतों से भरी बैल-गाड़ियां उत्तर-दक्खिन, पूरब-पश्चिम से धीरे-धीरे आने लगीं। जोगियों की जमात के पास गाड़ियों की एक गाती हुई कतार गुजरने लगी :

जननी बिनु राम अब न अवध में रहब....

उस कतार की अन्तिम बैलगाड़ी में कोई स्त्री अकेले कंठ से चौताल गा रही थी :

सखी ऐसे निठुर बनबारी सुरतिया बिसारी...

तीनों जोगियों ने मिलकर मोतीदास को जमीन से उठाकर छाती के बल झूले पर लिटा दिया और उसके दोनों हाथ झूले की रस्सी से बांध दिये गए, ताकि वह असहाय ज़मीन पर न चू पड़े। दस औरतों का एक दूसरा झुण्ड गाता हुआ उसी रास्ते में गुजरने लगा :

अंचरन सुरुज मनइबै तबै अपने राजा के पइबै...

चैत पूर्णिमा।

पास-पड़ोस और विशेषकर परगना नगर के यात्री मनवर और कुआनो नदी के बीच में गोसाईंपुरवा में ही भर गए। जमात भी मेले के इस आंचल से छू गया।

लोग मोतीदास के दर्शन के लिए प्रातःकाल से ही वहां पहुंचने लगे।

पर उस जोगी जमात में मोतीदास न था।

"जोगी लोग! मोतीदास के दर्शन कहां होंगे?"

"भाई सुनो, जोगी-वैरागी का पता कौन बताए! वह गगन महल का यात्री ठहरा, चित्त-रूपी कमल-दल-रस का पान करने वाला। मन में ही उस जोगी का दर्शन करो, भाई! शोभा का समुद्र जो यह महल है न, अन्तःकरण, जोगी का निवास वहीं है।

□□

मोतीदास! नहीं-नहीं-नहीं! मोतीदास नहीं, मोती सुकुल, सुनो मोती, अब आंखें खोलो, यह तुम्हारी जन्मभूमि बभनौली गांव है। यह तुम्हारे ही गांव का एक हिस्सा है, जहां तुम लेटे पड़े हो। तुम्हारे कट्टर पिता रामचन्द्र सुकुल ने तुम्हें अपने घर से अलग कर दिया है। तुम्हारी पत्नी गंगोत्तरी ससुर से ऊपर उठकर बैलगाड़ी पर चढ़कर लालगंज के मेले में गयी। क्यों गयी वह? यह मजला? उसे कैसे पता चला कि तुम उसी जोगी-जमात के साथ लालगंज के तीर पर थे? और उसे यह कैसे पता हुआ कि तुम वहां बेहोश बीमार पड़े हो? ज़रूर यह तुम दोनों की मिलीभगत थी।

गुरु से तर्क, गुरु से अविश्वास और पिता से कपट... बड़े जोगी बनने चले थे! पाप और कपट ने सब खण्डित कर दिया न! और दैवी दण्ड देखिए, दोनों पैर लुंज–लकवा मार गया।

मोती ने आंख खोलकर देखा। यह छोटा-सा हिस्सा उसका घर है। उसे बंटवारे में पन्द्रह बीघे खेत मिले हैं। ससुराल से मिली हुई उसकी गाय और वे दोनों बैल सामने बंधे जुगाली कर रहे हैं। मोतीदास को सिद्धि, उसका अधिकार और आत्मसम्मान मिल गया।

"सुनो, मेरा जोग सिद्ध हो गया! मैं गगन महल में पहुंच गया!"

"मैं साक्षात् मां भगवती, मां शक्ति को देख रहा हूं। मेरी साधना सफल हो गई, मां!"

गंगोत्तरी शरम से गुलाल हो गई, "धत्, मैं मां थोड़े ही हूं, मैं तो तुम्हारी..."

अंचरन सुरुज मनइबै तबै अपने राजा कै पइबै...

वह मैं पा गई। मेरे ईश्वर, तुझे मेरी सौ-सौ पूजा!"

"मां सुनो!"

"तुम पहले मेरी सुनो!" गंगोत्तरी ने गंभीरता से कहा, "चैत से आज चार महीने हो गए, मैंने तुमसे कुछ नहीं कहा। सारा गांव मेरी हंसी उड़ाता रहा, मैं चुप रही। सोचती रही कि कभी अपने-आप से तुम्हारी यह बोली छूट जायेगी।" गंगोत्री बोली, "मैं तुम्हारी मां हूं? मैं कहां धंस मरूं?"

मोती ने उदास होकर गंगोत्तरी को देखा।

गंगोत्तरी ने संभाल लिया, "पर हां, तुम अभी पूरे तन्दुरुस्त कहां हुए हो!"

"सच?"

"हां।"

सावन-भादों भी खूब बरसकर बीत गया।

"अब मैं बिल्कुल अच्छा हो गया हूं, मां! अब मैं खेती-गृहस्थी का काम संभालूंगा।"

"अपनी यह बोली तुम नहीं बन्द करोगे!" गंगोत्तरी ने उदास होकर कहा, "तो तुम्हारे लिए सब-कुछ वही जोगी है, मैं कुछ नहीं हूं?"

"नहीं-नहीं, वे जोगी धूर्त हैं, मा! उन्हें मां का दर्शन कभी नहीं हो सकता। तुम्हीं तो सब-कुछ हो। गगन महल की वासिनी मां, तुम!"

गंगोत्तरी ने मोती के मुख पर अपना कांपता हुआ हाथ रख दिया।

"तुम अभी पूरे स्वस्थ नहीं हो। तुम्हारे ये पैर...."

"ये पैर भी अच्छे हो जायेंगे, मां! तुम्हारी दया-दृष्टि चाहिए।"

"छी! छी! मुझे मां कहते लाज नहीं आती तुम्हें? फिर अगर कहा तो..."

गंगोत्तरी फफककर रो पड़ी।

क्वार भी बीत गया। खंजन पंछी समुद्र-तट से उड़कर गांव-देश में आ गए। गऊ-गोबर के ऊपर बैठा हुआ खंजन का जोड़ा 'चिहुं-चिहुं' कर रहा था। कितना शुभ है यह गऊ-गोबर के ऊपर खंजन-जोड़े को देखना!

गंगोत्तरी ने आकाश की ओर अपना आंचल फैला दिया। खंजन उत्तर दिशा की ओर उड़ गए।

"मां! ओ मां!"

"आंसुओं की माला जोगी नहीं जानेगा, जोगी तो बैरागी हो गया। तो मैं भी वही हठजोग करूंगी। अन्न-पानी भी छोड़ दूंगी। यदि जोगी को मां मिल गई तो मां को उसका पति कैसे नहीं मिलेगा? और पति के

पैर क्यों नहीं ठीक होंगे? ऐसा हठजोग करूंगी कि.... पार्वती जी ने भी तो जोग-तप ही किया था।"

गंगोत्तरी ने सोचा, खंजन का शुभ दर्शन किया है, प्रतीक्षा कर देखूं, उसका फल मुझे अवश्य मिलेगा।

एक दिन गंगोत्तरी पति के अशक्त पैरों में कोई दवा मालिश करने के लिए पायताने बैठने लगी।

मोती ने बड़े ज़ोर से हाथ हिलाते हुए कहा, "मेरे पायताने मत बैठो, मां!"

गंगोत्तरी ने अनसुना कर मोती के पैर पकड़ लिए।

मोती चिल्ला उठा, "मां, ऐसा न करो! तुम आशीर्वाद दो,मैं इसी क्षण उठ खड़ा हूंगा।"

"पर मैं वह जोगियों की मां नहीं हूं न!"

गंगोत्तरी आंचल में अपना मुंह छिपाये वहां से चली गई।

एक दिन मोती ने बिल्कुल शिशु-स्वर में पुकारा, "मां...मां!"

कोई उत्तर न मिला। मोती ने करवट अदल-बदल कर दाएं-बाएं देखा, कहीं गंगोत्तरी न दिखी। फिर किसी तरह बैठ कर उसने अपने पीछे के बरामदे में देखा। बरामदे में वह जोगियों जैसा झूला लटक रहा था। गंगोत्तरी डोर पकड़ अविचल-सी आंखों को मूंदे ऐसे खड़ी थी जैसे ध्यानावस्थित हो अर्धरात्रि और उनमें से कुछ बरस भी रहा था।"

यह देखते ही मोती सिर से पैर तक कांप गया, "नहीं-नहीं, मां! ऐसा मत करो, मां! वह सब झूठ है... छल है!"

मोती गिर पड़ेगा, गंगोत्तरी उसे संभालने पास चली आई और दृढ़ स्वरों में पूछा, "झूठ है वह?"

"हां, झूठ है।"

"तो वह मां भी झूठ है। मैं तुम्हारी मां नहीं हूं। मैं तुम्हारी..."

"मेरी परीक्षा मत लो, मां!"

"फिर तो वही सत्य है, जिसे तुम झूठ कह रहे हो, क्योंकि यह भाग्यहीन, असगुनी मां उसी से निकली है।"

सोते-सोते ठीक अर्धरात्रि के समय मोती की आंखें सहसा खुल गईं, जैसे किसी ने उसे झटक कर जगा दिया हो।

पीछे से बहुत हल्की-हल्की रोशनी आ रही थी। बरामदे में जैसे घी का दिया जल रहा था। गंगोत्तरी झूले पर अधर में लटकी हुई पेट के बल निष्क्रिय पड़ी थी।

देखते ही मोती के मुख से एक चीख निकली। उसने दौड़ कर गंगोत्तरी को झूले से पकड़ लिया।

"गंगा! गंगा!"

और उसे बांहों में उठाये हुए मोती आंगन में आ गया।

निष्प्राण जोगिनी गंगा की खुली हुई आंखों से जैसे चांदी बरस रही थी। वह रात कार्तिक की पूर्णिमा थी।

(१९५८)

थाना बेलूरगंज

जहां राजा की बगिया समाप्त होती है, बेलूरगंज थाने की आलीशान बिल्डिग दिखायी देने लगती है। एक ओर है वही थानेदार साहब का क्वार्टर, दीवानखाना, बारहदरी— सब सफेदी में पुता हुआ— चमचमा। दूसरी ओर है थाने की बिल्डिंग, गाढ़े कत्थई रंग की, जिसके चारों ओर ऊंची मजबूत चहारदीवारी खिंची हुई है। बीच में है वही पाकड़ का छतनार पेड़। जिस पर अब बारहों महीने बगुल पक्षियों का बसेरा रहता है। जिनके नाते अब इस पाकड़ के नीचे बैठना असम्भव हो गया है। सैकड़ों की तादाद में ये धवल रंग के बगुले पक्षी जितना अधिक बोलते हैं, उससे भी ज्यादा ये पाकड़ के नीचे बीट करते हैं।

थाने के बगल से ही शहीद रोड पास होती है, जो दो मील की दूरी पर आगे ग्रैंड ट्रंक रोड में मिलती है।

यह शहीद रोड तो आजादी के बाद बनी है— पहले यह कच्चा रास्ता था— जुलाई-अगस्त दो महीने गांठ भर पानी में डूबा हुआ। उन्नीस सौ बयालीस में ग्रैण्ड ट्रंक रोड से आगे इधर जो अंग्रेज सिपाही बेलूरगंज इलाके का दमन करने आए थे, वे तब इसी कच्चे रास्ते से गये थे। गांव के गांवों में एक तरफ से आग लगा कर। सैकड़ों आदमियों को बन्दूक से भूनकर। फुंके, लुटे और विध्वंस हुए बेलरगंज थाने की बिल्डिग को फिर से इतनी शानदार बिल्डिग बनवा कर।

थाने के पास वाले चौराहे पर लंगड़ भूज की गिमटीनुमा एक दुकान है— साबुन, तेल, तम्बाकू, पान, बीड़ी, भूजा सतुआ, गुड़, गट्टो, बतासा और मूंगफली वगैरह की दूकान। अब वह इधर सुबह-शाम चाय-बिस्कुट भी बेचने लगा है—

वही लंगड़ भूज बताता है बेलूरगंज थाने की वह दशा। उन्नीस सौ बयालीस में बेलूरगंज इलाके के लोग महात्मा गांधी की जै-जैकार बोलते हुए इस थाने पर चढ़ आए थे। विलियम दरोगा को मारकर उसकी लाश हाथी पर लादकर चारों ओर जलूस निकाला था। थाने को फूंक दिया था और तीन महीने इस थाने पर उन सुराजियों का शासन चला था।

उसी समय ये बगुल पक्षी सैकड़ों की तादाद में इस पाकड़ के वृक्ष पर न जाने कहां से आए थे और तब से यहीं उनका बसेरा चल रहा है। यह वही लंगड़ भूज बताता है।

नये थानेदार हरिमाधव सिंह ने अब यहां आते ही जो पहला काम किया, वह यही कि उसने इन बगुलों पर तीन राउण्ड फायर किये। ढेर के ढेर बगुले मरे, घायल हुए, उनके पंख सेमल की रुई की तरह पाकड़ के पेड़ से उड़े और इस तरह से बगुलों का बीस बरसों का वह बसेरा उसी दिन यहां से खत्म हुआ।

इस घटना से बेलूरगंज इलाके की जनता चौंक उठी। और वह इस बात की चर्चा करने लगी कि नया थानेदार निश्चय ही इस बदनाम थाने को दुरुस्त करने आया है।

बदनाम थाना बेलूरगंज!

यह बदनाम कैफियत सरकार के कागजों में लिख उठी है। सो बदनामी के इसी कलंक को धोने यह हरिमाधव सिंह यहां आया है। बी. ए., एल-एल. बी. पास है यह नवयुवक थानेदार। खास लखनऊ का रहने वाला अविवाहित पुरुष। हां, यह थाना आजादी के बाद तभी से तो बिगड़ा ही है, जब से जिले का वह पुलिस कप्तान डेविड साहब यहां से रिटायर्ड हुआ है।

लंगड़ भूज बताता है कि जब से पन्द्रह अगस्त, छब्बीस जनवरी को थाने की बिल्डिग पर हमारा तिरंगा झण्डा लहराने लगा है, तब से

पाकड़ के पेड़ पर बगुलों की तादाद में दूने-चौगुने का फर्क बढ़ता गया है। चांव-चांव, कें-कें, पिच-पिच! गन्दे, मनहूस, अपावन, जिस पेड़ पर इनका बसेरा हो, वह पेड़ ही सूख जाय।

तो साल के साल इस पाकड़ के पेड़ पर जैसे-जैसे बगुलों की संख्या बढ़ती रही, वैसे-वैसे यहां से एक साल के भीतर ही थानेदारों का तबादला होता रहा। तब से दो थानेदारों का तो यहां कत्ल हुआ। एक पुलिस दीवान मारा गया। तीन बार कांस्टेबलों के हाथ काटे गए। अजब इतिहास है इस थाने का। जो थानेदार यहां आया नहीं कि वह बेचारा बस गया यहां से। कोई मरकर, कोई लुटकर, कोई पिटकर, कोई लाइन हाजिर होकर, तो कोई मुअत्तल होकर। पिछले थानेदार पर तो सरकार पुलिस एक्ट के अन्तर्गत दफा सात और दफा उन्तीस के मुकदमे चला रही है और वह थानेदार जेल में है। जुलुम छिपाने और कायरता के अभियोग में। गजब है!

पिछले साल भर तक बेलूरगंज में कोई थानेदार ही नहीं आया। ठीक भी है— कौन आये यहां अपनी जान जोखिम में डालने। बिगड़ा हुआ इलाका। मन बढ़े लोग, अपराधी मनोवृत्ति की जनता! केवल अपनी अधम शक्ति का खेल दिखाने वाले यहां के प्रधान पुरुष।

पर ताज्जुब है, इस हरिमाधव सिंह थानेदार ने खुद अपना नाम दिया इस बेलूरगंज थाने के लिए! और थाने में आते ही सबसे पहले इसने इन्हीं बगुलों पर ही फायर किए। बगुले उड़े। चीखे-चिल्लाये। पूरे इलाके भर में उड़े। उड़ते रहे, उड़ते रहे।

सबसे पहले वे विक्रमपुर के इलाके में उड़े। राजा साहब सुविक्रमपुर की कोर्ट के सामने अमरूद की बगिया में उन्होंने रात भर का बसेरा किया। दूसरे दिन वे कुंअर गांव के आकाश में उड़े और तीसरे दिन वे सहसरामपुर में गये, फिर न जाने कहां गायब!

थाने के पेशेवर चापलूस, गवाह, मुखबिर, एजेण्ट हरिमाधव को सलाम करने आये, पर उसने दूर से ही उन्हें भगा दिया। थाने के दीवान साहब— चीफ बाबू अपने नये हाकिम को अपने तजुर्बे, सूझबूझ के आधार पर कुछ सलाह-मशविरा देना चाहते हैं, पर वह इसके लिए कोई मौका नहीं दे रहा है। थाने के बारहों कांस्टेबिल, इलाके के पैंतीसों

चौकीदार साहब को इलाके के असली बदमाशों की लिस्ट देना चाहते हैं, पर हरिमाधव है कि किसी से जबान ही नहीं खोलता। बस, थाने का रजिस्टर नम्बर आठ और वह रजिस्टर नम्बर चार खोले हुए दिन-रात उसी के अध्ययन में लगा है। हर गांव की कैफियत, वहां के लोग अमीर-गरीब, सजायाफ्ता हिस्ट्रीशीटर, अपराधी, बदमाश— सबको अपनी डायरी में दर्ज करता चल रहा है। और एक दिन सब के पते, ठिकाने और इलाके का नक्शा लिये हुए चुपचाप अपने घोड़े पर बैठकर वह थाने के इलाके में चल पड़ता है।

यह है सहसरामपुर का इलाका। ब्राह्मण, भूमिहार और कुर्मियों का क्षेत्र। धनी इलाका। उर्वरा धरती! यहां साल भर में कम से कम तीन कतल, इससे दूनी फौजदारी और इससे भी ज्यादा आर्म्सचेक के केस होते हैं।

और यह है दो कोस में कुंअर गांव का क्षेत्र— गौतम ठाकुरों का इलाका। बलुही, पीली धरती। जौ, धान, कोदो, मेडुआ, सरसों, मकई और महुए का देश। घर-घर यहां शराब बनती है और मेडुआ-महुए का लाटा खाया जाता है। भावुक, क्रोधी रक्त के लोग। यहीं के लोगों ने सन् बयालीस में बेलूरगंज का वह महाकाण्ड किया था। यहीं के लोग, यहीं के घर अंग्रेजों के उस दमन के शिकार हुए थे। यहीं के लोगों ने आजादी के बाद उन थानेदारों को मारा है। सबसे ज्यादा हिस्ट्रीशीटर यहीं हैं। हट्टे-कट्टे कसरती जवान, पहलवान जैसी आकृति। आकर्षक गठन, चमकती हुई आंखें। औरतें तो गजब की हैं! ऊंचे कद की भरपूर देहवाली। गेहुआं वर्ण, बड़ी-बड़ी कजरारी आंखें। जिससे आंख मिला लें तो उसे नशा हो जाय। थर-थर कांपने लगे वह। गजब रे गजब!

हरिमाधव अपने मुस्की घोड़े पर बैठा हुआ कुंअर गांव के टोलों से चारों ओर देख रहा है। लोग उसके आस-पास से गुजर रहे हैं, पर कोई उसे हाथ उठा कर सलाम नहीं कर रहा है। सबकी आंखों में जैसे क्रोध और शान का नशा है। घोड़ा बार-बार हिंहिया रहा है और बड़ी तेजी से टीले की जमीन को अपने अगले खुरों से खोद रहा है। जैसे वह अपने मालिक को यह दिखाना चाह रहा हो कि यही वह टीला है जिसे अंग्रेज

कलक्टर ने सन् बयालीस के दमन में अपनी आज्ञा से अपने सामने ही बनवाया था। घोड़ा बार-बार अपने पिछले पैरों पर खड़ा हो-हो जा रहा है। मालिक ने उसकी लगाम कस रखी है, पर वह बोल रहा है— मालिक, चलो अब यहां से। अंधेरा हुआ नहीं कि कुशल नहीं। दिन डूबने के पहले ही इस कुंअर गांव को छोड़ दो साहब! बड़े ही असभ्य-गंवार लोग हैं ये! विवेकहीन.....।

सुविक्रमपुर यहां से पांच मील है— जंगली रास्ता, बीच में गंगा का कछार!

हरिमाधव ने अपने अशान्त-उतावले घोड़े को पश्चिम की ओर मोड़ दिया।

वह रांका जमैइतापुर कहां है?

यहां से डेढ़ कोस पश्चिम। चमार और पासियों की बस्ती। अंधेरा होते-होते हरिमाधव का घोड़ा इसी इलाके में पहुंच गया। गरीब दुर्भिक्षों के गांव। खेतहीन लोग। यहां जितने खेत हैं उतनी उर्वरा विस्तृत भूमि, वह सब कुंअर गांव के लोगों की है। वे लोग मालिक— ये लोग खेतहीन किसान-मजदूर। चारों ओर छप्पर और फूस के कच्चे मकान। जगह-जगह खंडहर। केवल एक कुरिया रखी हुई। थाने के इलाके में सबसे ज्यादा यहीं के लोग जेलयाफ्ता हैं। अपराध? दफा एक सौ नौ, आवारा लोग; दफा एक सौ दस, दुश्चरित्र झगड़ालू लोग और दफा साठ, आबकारी धारा के अपराधी।

यहीं तीन घंटे रात बीत गयी। यहां से पक्के तीन कोस है बेलूरगंज का थाना। हरिमाधव का घोड़ा दुलकी चाल से आगे बढ़ रहा था। सहसा हरिमाधव ने घोड़े की रास खींच ली। कहीं से सुर-संगीत उमड़ रहा था— अजब आकर्षक, मन्त्र-मुग्ध करने वाला संगीत। जैसे फागुन की रात में पूर्णमासी के चांद की गन्ध फैली हो। जैसे कोई रासलीला रच रहा हो। मृदंग, मंजीर और वह मीड़ ताल वह मईना! शरद ऋतु में होरी!

मति मारै दृगन की चोट रसिया
होरी में मेरे लगि जायगी।

अब की चोट बचाई गयी हूं
करि घूंघट की ओट रसिया
मति मारै दृगन की चोट रसिया....

दायीं ओर बिहारी जी के मन्दिर की ओट में चुपचाप खड़ा हुआ हरिमाधव मन्त्रमुग्ध देख रहा है— वैष्णव साधुओं का झुण्ड बैठा हुआ है। बीच में पीली साड़ी पहने हुए एक युवती बैठी गा रही है। उसके केश खुले हैं। गोरी सुन्दर कलाइयों में सोने की चूड़ियां हैं। आंखें मूंदी हुई हैं। लालटेन की रोशनी उसके दायें गाल पर सीधी पड़ रही है। आंखों से वही रागरस बरस रहा है। मृदंग की धीमी गत पर वही होरी उमड़ रही है— 'मति मारै दृगन की चोट रसिया....।'

कण्ठ लालित्य, स्वर का आरोह-अवरोह मीड़, गमक और मूर्छना सब अपूर्व!

हरिमाधव घोड़े से नीचे उतर कर वहीं जमीन पर बैठ गया। दिन भर की भूख-प्यास, थकन, चिन्ता, अशान्ति जैसे सब घुल गयी। लगा यह कैसी पावन भूमि है! कितनी रसमय, भावमय! और कितनी सुन्दर!

जब वह गीत खत्म हुआ और मृदंग की थाप सम पर आकर रुक गयी, तो हरिमाधव सहज ही आगे बढ़कर सबके सामने नतमस्तक हो गया।

आधी रात होते-होते हरिमाधव थाने लौटा। अगले दिन रात भर वही होरी उसके मन-प्राणों में घुमड़ती रही। वही मीड़, वही कण्ठ, वही मुंदी आंखें, वही अश्रुस्नात मुख और वही मूर्छना। तीसरे ही दिन सुबह होते-होते थाने में रिपोर्ट आयी कि उसी बिहारीजी के मन्दिर— वैष्णव मठ पर डाका पड़ा है।

हरिमाधव वहां तीर की भांति पहुंचा। देखा, वैष्णव साधुओं को बड़ी चोट आयी है। डाका डालने वाले कुल सात व्यक्ति थे। सब बन्दूक-भाले लिये हुए पैदल आए थे। मठ के प्रधान पुरुष से उन्होंने सिर्फ इतना पूछा कि क्या कल रात को यहां नए थानेदार का आतिथ्य किया गया?

हां बाबू, क्यों नहीं?

इतना सा उत्तर पाते ही उन लोगों ने सन्तों को बुरी तरह मारना

शुरू किया। मठ को लूटा, और हंसते हुए यह गए कि खबरदार, अब ऐसा कभी न करना। हर नया थानेदार हमारा दुश्मन है। बस!

वे सातों व्यक्ति साधुओं के खूब पहचाने हुए लोग थे। उसी कुंअर गांव क्षेत्र के लोग मौजा धनपुरा खास के। वे सातों व्यक्ति उसी दम बेलूरगंज थाने पर बुला लिए गए। उसी पाकड़ के वृक्ष के नीचे वे सब एक कतार में बैठा दिये गये। हरिमाधव भी उसी वृक्ष के तले। अब बगुलों का डर नहीं है। यह छाया पवित्र और शान्त है।

हरिमाधव ने उनसे पूछना शुरू किया, "बोलो तुम्हीं लोगों ने बिहारी जी के मन्दिर और मठ पर डाका डाला है न?"

वे सातों व्यक्ति चुप।

"चूंकि उन सन्तों ने मुझे वहां स्नेह से बैठाया, मुझे शीतल जल पीने को दिया और मुझे अपना समझा, यही उनका दोष है न? इसका असली कारण तो मैं हूं। तो तुम लोगों की नजर में कसूरवार, अपराधी मैं हूं न? क्योंकि मैं तुम्हारे थाने का नया दरोगा हूं!"

वे सातों मूर्तिवत हरिमाधव को एकटक देखते रहे।

"बताओ, तुमसे किसने यह कहा कि हर नया थानेदार तुम लोगों का दुश्मन है?"

वे सातों आदमी हैरान थे अपने इस नये थानेदार के मुख को देखकर। उसका अजब दुख, उसकी अजब चिन्ता, उसकी अजब आन्तरिक पीड़ा। उन्हें पहली बार ऐसा लगा कि नया थानेदार उन्हीं की तरह एक आदमी होता है। उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि यातना, दण्ड से बड़ी कोई एक चीज होती है— जिसका नाम उन्हें नहीं मालूम, पर उन्हें वह चीज आज पहली दफा, जीवन में पहली बार छू गयी।

वे सातों निरक्षर गंवार— पूरी जवानी पर चढ़े हुए पुरुष आज गाय की तरह हरिमाधव को ताक रहे थे। वे तो यहां थाने पर आये थे पुलिस द्वारा कड़ी से कड़ी यातना, मार, पीड़ा सहने की दुश्चिन्ता से! पर यह कैसा हाकिम है जो हम अपराधियों का दुख-दर्द अपने ही माथे ले रहा है! हरिमाधव बिल्कुल उनके सामने आ खड़ा हुआ। भारी आंखों से वह बोला, "सुनो, तुम सब नादान मूर्ख हो, इसमें तुम्हारा

कोई कसूर नहीं। चुपचाप जाकर साधुओं के पैरों पर गिरकर उनसे माफी मांगो और उनका एक-एक सामान जाकर वापस करो!"

वे सातों व्यक्ति एक दूसरे का मुंह देखते रह गये।

हरिमाधव उनके कन्धों पर हाथ रखकर उन्हें समझाने लगा, "विश्वास करो, जब तक तुम सब डाकू अपराधी हो, तब तक हम सब डाकू अपराधी हैं।"

वे सातों व्यक्ति जिस रास्ते से अपने गांव गये, अपने कन्धों पर डाके का सामान लादे हुए जिस रास्ते से वे लोग फिर बिहारी जी के मन्दिर-मठ पर आये, गांवों के असंख्य व्यक्तियों ने उन्हें देखा— माथा झुकाये हुए उन्हें पाया। जैसे वे सब घायल, लहू-लुहान हों।

फिर यह खबर उधर के सारे इलाके भर में फैली कि नये थानेदार ने उन लोगों को इतना मारा, इतना मारा कि उन्होंने अपने प्राण बचाने के लिए वह अपराध स्वीकार कर लिया। और डाके का सामान बरामद!

फिर उसी शाम के वक्त कुंअर गांव के प्रधान, धनपुरा खास के अदालत सरपंच और रांका जमैइतापुर क्षेत्र के एम. एल. ए., ये तीनों महानुभाव अपने आदमियों को लिये हुए बेलूरगंज थाने पर आ धमके। बड़े आवेश और क्रोध में, अधिकार और शक्ति के नशे में चूर!

"बुलाओ नये थानेदार को! कहां है वह?"

"जी हां, हाजिर हूं। कहिए।"

हरिमाधव सिंह उन सबके सामने माथा ऊंचा किये हुए खड़ा हो गया।

"तुमने हमारे उन सातों आदमियों को इस तरह मारा क्यों? तुम हमारी जनता पर महज कानूनी कार्रवाई कर सकते हो, पर तुम अपने हाथ में कानून नहीं ले सकते।"

"तुमने मारा क्यों?"

"तुम इस तरह की हरकत करके इस थाने में एक दिन भी नहीं रह सकते।"

"तुम्हें मालूम होना चाहिए, यहां थानेदार महज जाने के लिए आता है। यहां रहने के लिए नहीं।"

हरिमाधव ने तपे हुए स्वर में सबको एक साथ एक दृष्टि में उत्तर दिया, "जी हां, मैं यहां जीने नहीं, मरने आया हूं। और जान-बूझकर स्वयं अपनी इच्छा से यहां मरने आया हूं।"

"तुमने इतना मारा क्यों?"

"मुझसे गलती हुई! एक बार आप लोग मुझे क्षमा कीजिए," हरिमाधव ने आरक्त मुख से यह कहा और उन सबके सामने हाथ जोड़ लिया।

अगली ही रात!

उसी एक रात में तीन डाके पड़े। पहला डाका कुंअर गांव के प्रधान के घर। उसके बाद दूसरा डाका धनपुरा खास के सरपंच के घर पर और सुबह होते-होते तीसरा डाका रांका जमैइतापुर के क्षेत्र के एम. एल. ए. के घर पर। तीनों भयानक डाके। तीनों व्यक्तियों पर बेतरह मार और अजब लूट!

सारे क्षेत्र में हाहाकार मच गया। गजब का आतंक। इस बार वे सात ही नहीं। पच्चीस डाकुओं का वह जबर्दस्त गिरोह। उन सातों के साथ वे सारे पच्चीस लोग पकड़ कर थाने पर लाये गये। डोली पर उठाकर वे तीनों घायल प्रधान भी थाने पर लाये गये।

हरिमाधव ने उन पच्चीसों व्यक्तियों को पहले खाना खिलाया। ऊपर से दूध और मिठाई! सभी हैरान। आश्चर्यचकित। फिर भी वह थानेदार हाथ जोड़कर उन व्यक्तियों को राजा बाबू सम्बोधित करते हुए उनसे प्यार की बातें करने लगा।

यह देखकर वे तीनों घायल प्रधान पुरुष चिल्ला उठे, "इन अपराधियों को तुम मारते क्यों नहीं? मार-मार के पहले तुम इन्हें बेहोश क्यों नहीं कर देते? तुम इनसे प्रेम का सलूक कैसे-क्यों करते हो? जरूर तुम इनसे मिले हो!"

"जी नहीं, मैं बेलूरगंज का थानेदार हूं!"

"फिर तुम इन्हें मारते क्यों नहीं?"

"क्योंकि मैं अपने हाथ में कानून नहीं ले सकता।"

"नहीं, इन अपराधियों को पहले मारना ही तुम्हारा कानून है। तुम इन्हें मारते क्यों नहीं?"

"जी नहीं, मैं इन पर सिर्फ कानूनी कार्रवाई कर सकता हूं।"

"क्या है वह कानूनी कार्रवाई?"

"सिर्फ यही कि यदि मुझे चश्मदीद गवाह और असली सबूत मिले तो इन्हें मैं केवल उस दफा के भीतर गिरफ्तार करके जिले के हाकिम के सामने खड़ा कर सकता हूं। बस।"

"यह सब बकवास है।"

"जी हां, आज यह बकवास है। आप लोग आज भूल गये— उस दिन आप लोगों ने मुझे क्या नसीहत और आज्ञा दी थी— मैं इस थाने में यहां के किसी भी अपराधी को मार नहीं सकता, मैं उन पर सिर्फ कानूनी कार्रवाई कर सकता हूं। सो मैं मजबूर हूं। उस दिन आप ही लोगों ने मुझ से कहा था कि इस तरह कानून अपने हाथ में लेने से मैं यहां से खत्म कर दिया जाउंगा जैसे कि पिछले थानेदार यहां से खत्म हो गए हैं। मैं उस तरह यहां से खत्म नहीं होना चाहता। मुझे मेरी यह नौकरी चाहिए। मुझे मेरा यह जीवन चाहिए। मैं इस बेलूरगंज थाने में रहना चाहता हूं।"

"मारो इन्हें, तुम पर कोई आंच नहीं आंयेगी। इसकी जिम्मेदारी हम लोगों के ऊपर है।"

"कैसे? किस तरह?"

"मैं ग्राम प्रधान हूं— सारे गांवों का मालिक। गांव की जनता मेरे हाथ में है। मैं जैसा कहूंगा, चाहूंगा, वैसा ही होगा।"

"और मैं सरपंच हूं— न्याय तो मेरे हाथ में है।"

"और.... और.... मैं एम. एल. ए. हूं, जिले से लेकर कौन्सिल तक मेरी दौड़ और पहुंच है।"

"और?" हरिमाधव ने धीरे से पूछा।

"और... और... मैं गौतम ठाकुर हूं, इस क्षेत्र के सारे क्षत्रिय, यह सारी क्षत्रिय जाति मेरे पक्ष में है।"

"मैं ब्राह्मण हूं, सारे ब्राह्मण मेरे हाथ में हैं।"

"और मैं हरिजन एम. एल. ए. हूं, सारी शिड्यूल क्लास मेरे कहने में है।"

"हूं! पर इससे मेरी रक्षा नहीं होगी," हरिमाधव पाकड़ के पीले पत्तों की ओर निहारते हुए बोला, "मैं पुलिस विभाग का हूं– मेरे ऊपर पुलिस के नियम हैं। एस. पी., एस. एस. पी., डी. आई. जी., होम मिनिस्टर और...।"

हरिमाधव के आस-पास पाकड़ के अनेक पीले पत्ते गिरते रहे। एक पीले पत्ते को उठाकर उसने देखा, पाकड़ के पत्ते पर काले-काले धब्बे उभरे हैं। उसी समय उसे उत्तर मिला, "हमारी इतनी ही शक्ति नहीं है दारोगा जी, और भी है! वह देखिए...।"

उसी समय शहीद रोड से दौड़ती हुई एक जीप तेजी से आकर सामने पाकड़ के नीचे रुक गयी।

"यह लीजिए, आ गये हमारे भूतपूर्व राजा साहब– राजा साहब सुविक्रमपुर– राजा गजेन्द्रप्रताप सिंह।"

खद्दर की महीन धोती, कुर्ता और गांधी टोपी, अंगुलियों में कई अंगूठियां और मुंह में पान, पचास वर्ष की प्रौढ़ अवस्था, सुडौल शरीर, देहदशा पर राजापन की मात्र परछाईं, पर सारे मुख पर जैसे छइयां छइयां। मलिन, विषयी आंखें, मोटे होंठ। भद्दी आवाज।

हरिमाधव ने एक नजर में गजेन्द्रप्रताप सिंह को नीचे से ऊपर तक देख लिया।

"बड़ी खुशी हुई आपसे मिलकर।"

"मुझे भी।"

"यह क्या मामला है थानेदार साहब? ऐसा गजब तो यहां कभी हुआ ही नहीं।"

"सच?"

"हां, हां, बिल्कुल गजब।"

हरिमाधव कुछ बोलने ही जा रहा था कि थाने के दीवान ने अपने साहब को हाथ से संकेत किया। पाकड़ के वृक्ष से दूसरी ओर ले जाकर उसने अपने नये हाकिम को राजा साहब की शक्ति और पहुंच का परिचय दिया, "सूबे के सबसे बडे मिनिस्टर राजा साहब के समधी हैं। ये खुद एक एम.पी. के दामाद हैं। इनकी लड़की की शादी में खुद आई. जी. साहब बारात में आये थे। और...।"

"तो?"

"तो साहब, ऐसी बात है कि जरा गौर कीजिए, समझ लीजिए कि...।" हरिमाधव ने तब तक पलटकर देखा कि राजा साहब अपने हण्टर से उन खामोश बैठे हुए आदमियों को धड़ाधड़ मार रहे हैं।

हरिमाधव ने दौड़कर राजा साहब का हण्टर छीन लिया, "खबरदार, आप अपने हाथ में इस तरह सरकार का कानून नहीं ले सकते।"

"चुप रहो। कौन है यहां सरकार?"

"मैं हूं।"

हरिमाधव ने गरजकर कहा और अपने हाथ में भरी हुई पिस्तौल संभाल ली। थाने के बारहों सिपाही बन्दूक लिये सावधान हो गये।

राजा साहब की सिट्टीपिट्टी गुम। तनी हुई भौंहें ढीली पड़ गयीं, तत्काल।

"तुम इस इलाके को नहीं जानते?"

जानता हूं। मैं भी इसी देश समाज का हूं। यह अंगरेजी राज्य नहीं है।"

"तुम मुझे नहीं जानते? तुम्हें मेरी ताकत का पता नहीं है?"

"क्या है तेरी ताकत? जरा मैं भी तो सुनूं! जिस शक्ति ने तुम्हारा राज्य खत्म किया, इस देश की गन्दी जमींदारी खत्म की, सबसे बड़ी ताकत वही है! तुम लोग अब ताकत नहीं चोर हो, डाकू हो, समाज के गिरहकट हो! अपराध के नाम पर ये जो पच्चीस आदमी यहां बैठे हैं, ये अपराधी जरूर हैं, पर ये खुद अपराध नहीं हैं। अपराध हैं आप, और आपके ये तीनों दोस्त! इन तीनों महानुभावों ने अब तक दूसरों को ही पिटवाया था, मारा था, दूसरों पर ही इन्होंने डाके डलवाये थे। और ऊपर से ये कानून, सेवा और न्याय के नारे लगाते थे। और आज जब इन्हें पहली बार– जीवन में पहली बार मार, यातना, क्षति, चोट और डाके का अपने ऊपर अनुभव हुआ तो इनके ही लोग इन्हें पहली बार अपराधी लगे हैं। और जो अब तक, गत इतने वर्षों तक इस बेलूरगंज थाने में घटित हुआ है, वह क्या है? कौन जिम्मेदार है उसका? अपने

जितने थानेदारों का यहां कत्ल हुआ है, जितने लोगों को यहां फांसियां हुई हैं, खून हुए हैं, जेल डामिल हुए हैं, उन सबके दाग किन हाथों में हैं?

"जनता वही है, जिसने आजादी की लड़ाई में निर्भय और स्वार्थहीन होकर सन् बयालसी में बेलूरगंज का वह महाकाण्ड किया था, और आज भी जनता वही है जो आज अंधेरे में अपनी ही आत्म-हत्या कर रही है।

"जनता वही है, जिसे तब सन् बयालीस के बाद उसका मूल्य मिला था। फर्क इतना है कि आज उसे अपना मूल्य चुकाना पड़ रहा है।

"सिक्का वही एक है। पर उसे मूल्य देने वाले दूसरे हैं। काश, सिक्का ही अपना सही मूल्य दे पाता।"

□□

बेलूरगंज का नया थानेदार जब यह कह रहा था, तो वहां के सारे लोग एकटक उसका मुख देख रहे थे।

चौराहे की गिमटीनुमा दुकान वाला वह लंगड़ भूज अपनी टूटी टांग नचा करता है, "भइया मोर, अब डारो डाका, अब करो कतल! पूड़ी मिठाई मिलेगी, बेलूरगंज के थाने में! खूब नस पकड़ी है भइया इस नये दरोगा ने। न जेल, न मार, न मुकदमा। क्योंकि जब डाका डाका ही नहीं है, तो जेल मुकदमा कैसा? जिसका सामान, गहना-गुरिया, रुपया-पैसा, उसी को फिर वापस! न कूकुर भूंका न पहरू जागा! सब समझ गये मन-ही-मन!"

लंगड़ भूज आज इतने वर्षों बाद पहली बार अपने मुसाफिर ग्राहकों से बताने लगा है कि उसकी यह दायीं टांग अंग्रेज पुलिस की गोली से टूटी है। उसी बेलूरगंज थाने के महाकाण्ड में।

पन्द्रह वर्षों बाद कल लंगड़ भूज ने शहीद रोड पर अगरबत्ती जला कर उस पर कनेर के फूल चढ़ाये हैं। आकाश की ओर देख कर मन ही मन वह बोला है, इन्कलाब जिन्दाबाद!

बेलूरगंज थाने पर दो घण्टे रात बीती है। पाकड़ के वृक्ष के नीचे वही राजा साहब वाली जीप सहसा आकर रुक गयी है। उसमें से एक

स्त्री निकलती है। सधे कदमों से वह थानेदार साहब के क्वार्टर की ओर बढ़ रही है।

थाने की ड्यूटी पर खड़ा हुआ सिपाही आवाज देता है, "हू कम देयर?" स्त्री जवाब देती है, "फ्रेण्ड!"

और वही स्त्री बड़े विश्वास के साथ बढ़ कर साहब के घर में चली जाती है।

हरिमाधव के कमरे में जाकर वही स्त्री, बिहारी जी के मन्दिर में वैष्णव, सन्तों के बीच वही होरी गाने वाली— 'मति मारै दृगन की चोट रसिया...'

हरिमाधव उसे एकटक देखता है— एक अपूर्व सुन्दरी— बसन्त ऋतु की अभिसारिका-सी। गुलाबी वस्त्र, अंग-अंग में अलंकरण, कुजरारी आंखों में मृदंग के बोल।

"उस दिन सिर्फ नाम जाना था— चन्द्रमुखी! उतने से ही, उस मंदिर गान से ही यह कलंकित-बदनाम धरती मुझे धन्य लगने लगी है। कितने सुन्दर हैं यहां के लोग! कैसी पावन है यह भूमि— तभी से यह लगने लगा है मुझे!"

"और मेरा परिचय?"

"उस परिचय से क्या होगा?"

"हूं!"

दोनों सहज ही घर से बाहर निकल आये— जैसे वर्षों दोनों साथ रहे हों।

"यह किसकी जीप पर बैठ कर तुम यहां आयी हो?"

"वही तुम्हें बताना है!"

निर्जन शहीद रोड पर दोनों धीरे-धीरे पैदल बढ़ते चले जा रहे हैं। शरद ऋतु का निर्मल आकाश सितारों की रोशनी से अपनी सुगन्ध बिखेर रहा है।

चन्द्रमुखी अपनी सारी बात कह कर हरि माधव से सखी की तरह बोली, "सारी बातें बतायी भी तो नहीं जा सकतीं। अच्छा है, तुम उसे जानो भी नहीं।"

"क्या?"

चन्द्रमुखी के मुख पर एक क्षण के लिए जैसे किसी ने हल्दी पोत दी हो। फिर वह संभल कर बोली, "जिसकी जीप पर चढ़ कर मैं यहां आयी हूं, वही राजा साहब सुविक्रमपुर– जिनको पहली बार तुमने उस तरह उस दिन डांट लगायी थी, उन्होंने मेरे पति से दुर्गा जी के मन्दिर में मेरे सामने कसम खायी है कि जब तक मैं खुद नहीं चाहूंगी, तब तक वह मेरी प्रतीक्षा करेंगे।"

"क्या नहीं चाहोगी?"

"अभी इससे ज्यादा कुछ मत जानना चाहो। मैं आगे कुछ बताऊंगी भी नहीं।"

चन्द्रमुखी सहसा हरिमाधव का हाथ पकड़ कर वहीं खड़ी हो गयी।

"तुमने इस इलाके का असली अपराध पकड़ा है। मैं तभी से तुम्हारी विजय के लिए मां दुर्गा के मन्दिर में पूजा करती हूं– तुमसे मैं एक बात कहना चाहती हूं!"

"बोलो, आज्ञा दो," हरिमाधव ने चन्द्रमुखी की आंखों पर अपनी नजर रोप कर कहा।

चन्द्रमुखी धीरे से बोली, "तुम कल प्रात काल मेरे घर आओगे! उसी तरह अपने घोड़े पर चढ़े हुए।"

"जरूर आऊंगा! पर इससे तुम्हारा कोई अहित तो न होगा। ...मेरा मतलब...।"

"हां, हां, मैं समझ गयी। मेरा तुमसे कभी कोई अहित न होगा।" सच, तुम्हें मैं न जाने कब से जानती हूं– ऐसा मुझे लगता है कि अपने इस जन्म से भी पहले से ही तुम्हें जानती हूं!" फिर वह कुछ हंस कर बोली, "कुंअर गांव की कुंअरानी, और सुविक्रमपुर राजा की सम्बन्धिनी होने के नाते मुझे बहुत-बहुत विशेषाधिकार मिले हैं। इस सत्य को यह पूरा इलाका जानता है– तभी मुझे कोई पगली रानी कहता है, कभी कोई साधुनी, कभी कोई कलंकिनी और कभी कोई.... छोड़ो इन बातों को!"

चन्द्रमुखी खिलखिलाकर हंस पड़ी।

हरिमाधव को रात-भर नींद नहीं आयी। उसे लग रहा था, वह चन्द्रमुखी उसके बगल में ही खड़ी है। और उसकी श्वास-सुगन्ध उसे रह-रह कर छू रही है।

वह जैसे रात-भर उससे वही बातें करती रही है– 'तो मेरे हाई स्कूल पास करते ही मुझे आगे पढ़ने से रोक लिया गया। घर ही पर आगे केवल मेरे संगीत की शिक्षा चलती रही। ज्योतिषियों ने मेरी कुण्डली के आधार पर मुझे मंगली करार दिया। भला सोचो तो सही इस अपराध का न्याय कौन करेगा? ज्योतिषी और मेरी जन्म-कुण्डली अपने जीवन पर भी मनुष्य का अधिकार नहीं। जीवन मेरा, और इस पर निर्णय देने वाला कोई और!' चन्द्रमुखी चुप देखती रही, देखती रही। फिर मुस्करा कर कह रही है, 'खैर, मेरे पिता तो महज तालुकेदार थे– पर मेरे नानाजी तिरहुत के राजा। मुझे बहुत मानते थे वे। मुझे वे तिरहुत की राजकुमारी कहते थे। यह बहुत पहले की बात है। जब मैं छोटी थी, दस वर्ष की और तब वे मेरे नाना जी जीवित थे। यहीं पहली बार इस सुविक्रमपुर के राजा ने मुझे देखा था।

'...सुनो माधव, गौतम की लड़की सिर्फ गौतम ही के यहां ब्याही जाती है। ऊपर से मैं मंगली! सो मंगली पुरुष से ही मैं ब्याही जा सकती थी। फल यह हुआ कि इसी सुविक्रमपुर के राजा ने जोड़-गांठ लगा कर मेरी शादी इसी कुंअर गांव में बड़े कुंअर के संग....। सुनो, मेरी उस शादी को अभी चार ही वर्ष हुए हैं। मेरे पति को भी यह मालूम है कि उनसे यह मेरी शादी क्यों हुई है? वे सब जानते हैं। मैं भी जानती हूं, पर और कोई....। सुनो न माधव, तब से राजा की वह जीप रात होते ही रोज मेरे घर पहुंच जाती है। सूनी जीप में से वही बुड्ढा ड्राइवर धीरे से पुकारता है– रानी साहब!

'मुझे हमेशा हंसी आ जाती है– रानी साहब! रानी.... रानी.... हं.... हं.....हSS..SS..S रानी....!

'मैं उस जीप पर जाकर धीरे से बैठ जाती हूं। और जहां मैं कहती हूं जीप मुझे वहीं ले जाती है। और मैं अब तक सिर्फ दो जगह गयी हूं– नित्य जाती हूं– एक वही बिहारी जी के मन्दिर के आंगन में और एक

गंगा के अंक में। वह जगह मैं दिखाऊंगी तुम्हें और आज तक मैंने वह सुविक्रमपुर नहीं देखा। पर यह सब क्या है, मैं समझ नहीं पाती! अपराध के जाल कितने महीन बुने होते हैं, पर कितने मजबूत! कितने अभेद्य! बहुत से असंख्य अपराध तो ऐसे भी होते हैं माधव, जो कहीं कहे तक नहीं जाते, कहे जा भी नहीं सकते, हां....। फिर उनके न्याय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। एक बात और.....अपराध न्याय से बड़ा होता है माधव! न्याय सौन्दर्य है, अपराध शक्ति है। हमारे देश में युग-युगों से केवल इसी शक्ति की ही तो उपासना हुई है। सौन्दर्य की पूजा कब हुई है? तभी तो इतने अपराध हैं न! अच्छा छोड़ो इन बातों को! लाओ देखूं मैं तुम्हारे हाथ। हाय! ये तो कितने कोमल हैं! कितने सुन्दर! कितने पावन....! हे मां! सुनो मेरी विनती, तुम शक्ति की जगह केवल सुन्दर मां क्यों नहीं हो जातीं? केवल सुन्दर!'

हरिमाधव की सुबह जब एकाएक नींद टूटी तो उसे ऐसा लगा कि उसके कमरे में वही असंख्य चन्द्रमुखी खड़ी हैं— सुन्दर, सुकोमल, अवर्णनीय!

कुंअर गांव की सीमा का जहां अन्त है, बड़े कुंअर की वहीं कोठी है। पक्की हवेली। जिस पर वर्षों से चूनाकारी नहीं हुई। यह कभी पूरी हवेली थी या रही होगी, ऐसा लगता है। हवेली का पिछला हिस्सा कई जगह से गिर चुका है। उसकी नंगी दीवारें न जाने किस सबूत के लिए सिर्फ खड़ी हैं। हवेली के चारों ओर केले, अमरूद और कटहल के वृक्ष लगे हैं। उनमें से बहुत से आज टूटे, सूखे और रौंदे-पिटे हुए। हरिमाधव का घोड़ा दरवाजे के सामने जाकर खड़ा हो गया। वहीं से हरिमाधव अपनी आंख उटेरे हुए चारों तरफ देख रहा है— जैसे वह कोई स्वप्न देख रहा हो।

वह घोड़े से उतरा ही था कि उसके सामने सफेद वस्त्रों में स्वागत के लिए वही चन्द्रमुखी आ खड़ी हुई।

हरिमाधव भीतर ले जाया गया।

बड़ा-सा कमरा— सामान से पटा हुआ। मकड़ी के जालों से भरपूर। बड़े से पलंग पर एक साठ वर्ष का पुरुष लेटा है— अधमरा

अपाहिज-सा। यही पति है चन्द्रमुखी का। कभी सारे कुंवार गांव का यही तालुकेदार था। नाम है कुंअर जयसिंह।

हरिमाधव को उन्होंने देखते ही उसने अपना हाथ मिलाया। कांपता हुआ हाथ, ज्वरग्रस्त! फिर कुंअर जयसिंह के अबाध आंसू! वह निरीह, दयनीय मुख!

फिर ब चढ़ाकर सुविक्रमपुर के राजा को गालियां देने लगे। बताने लगे कि अपराध की सीढ़ियां होती हैं— ऊपर से नीचे तक परस्पर जुड़ी हुई। बेलूरगंज थाने की यही सीढ़ियां हैं— ग्राम प्रधान, सरपंच, एम. एल. ए. और सबसे ऊपर वही सुविक्रमपुर का राजा। कौन हटायेगा, तोड़ेगा इस सीढ़ी को? यह सीढ़ी अनन्त है। ऊंची फिर और ऊंची। सब जगह पहुंचने वाली, सब जगह डोलने-फिरने वाली!

□□

हरिमाधव अपना घोड़ा दौड़ाता हुआ सुविक्रमपुर में पहुंचा है। अपनी डायरी और नक्शा खोलकर वह देखता है कि सबसे ज्यादा अपराधी यहीं के लोग हैं। दफा तीन सौ छिहत्तर, तीन सौ पंचानबे, तीन सौ सत्तानबे और तीन सौ दो। और सजायाफ्ता इलाके में सबसे कम यहीं के लोग हैं। पुलिस को यहां से गवाह नहीं मिलते। सबूत नहीं मिलते। यहां एक भी कोई हिस्ट्रीशीटर नहीं है।

नीचे की जनता कितनी दबी है यहां!

हरिमाधव को ये लोग हाथ-मुंह छिपा कर सलाम कर रहे हैं कि यह खबर कहीं राजा तक न पहुंच जाय। इतना आतंक! अगले चुनाव में यही राजा पार्लियामेंट की मेम्बरी के लिए लड़ेगा। और जीतेगा भी यही, सारी जनता अभी से इसे समझ रही है।

□□

गंगा का कछार फिर गंगा जी। गंगा के पानी में यह छोटा-सा चट्टान-शिखर। यही वह दूसरा स्थान है, चन्द्रमुखी का। यहीं ले आयी है वह अपने साथ हरिमाधव को। गंगा का पानी अब निर्मल हो उठा है। पूस के दिन हैं। बहुत ठण्ड है। अंधेरी रात है। बस वह हरिमाधव

के संग मौन मंत्रमुग्ध खड़ी है, खड़ी है। न जाने गंगा का कितना-कितना पानी उतनी देर में उधर से बह गया है!

"सब जल को समुद्र मिलेगा क्या? बताओ! उत्तर दो....।"

"पता नहां।"

"फिर भी जल को तो बहना ही है— चाहे जो हो! जो प्रकृति है, स्वभाव है, निज है वह तो जियेगा ही। उसे जीना भी चाहिए! क्यो?....."

"क्यों, वह जिये नहीं क्या?"

चन्द्रमुखी ने हरिमाधव को देखा और उसने यही अनाहद प्रश्न सुना। और वह कांप उठा। पूस की ठण्ड से नहीं। प्रश्न के ताप से। उन आंखों में बसी अथाह नीलिमा से। हरिमाधव के दोनों हाथ अपने मुख पर रखकर वह अंत में बोली, "एक दिन यह गंगा मां मुझे बुलाती हैं कि आओ बेटे मेरी गोद में आ जाओ। फिर दूसरे दिन बिहारी जी के मन्दिर से उनकी बांसुरी की पुकार आती है कि तुम मेरे पास आ जाओ मेरी राधा! फिर मैं वहां भागती हूं। यहां फिर वहां। और यह जीप सदा मेरे पीछे दौड़ती रहती है। और यह मुझसे कहती है, चन्द्रमुखी तुम्हें सुविक्रमपुर जाना है। तुम्हारी नियति यही है। तुम मंगली रानी हो।"

"नहीं, नहीं, ऐसा कभी नहीं होगा!" हरिमाधव ने दृढ़ स्वर में कहा।

"सच?"

"हां!"

"जब से तुम्हें देखा है, मुझे भी यही विश्वास है।"

"मुझे भी!"

"सुनो!"

"बोलो!"

"आज से कुछ ही दिन बाद जब पूस मास की पूर्णमासी रात होगी— पूरे चांद की रात— उस दिन आधी रात के समय मैं पैदल उसी शहीद रोड से तुम्हारे पास आऊंगी।"

"और मैं?"

"तुम वहीं अपने आंगन में बैठे मेरा इन्तजार करोगे। मैं चन्द्रमुखी हूं न!"

"नहीं, तुम्हें कष्ट होगा! इतना लम्बा पैदल रास्ता, रात का समय और यह अपराधी इलाका!"

"नहीं,नहीं, मेरा वही सुख होगा! रात तो मेरी सखी है। इलाका मेरा अपना है।"

"सुनो तो!"

"नहीं,तुम मेरी सुनो—जिस रास्ते से चल कर मैं तुम्हारे पास आऊंगी, उस रास्ते के लोग तुम्हारी अब पूजा करते हैं। हमारे हरिमाधव सरकार! जुग-जुग जियो साहेब!"

और वह अपनी शिशुवत हंसी में हरिमाधव को बहा ले गयी।

□□

पूस की पूर्णमासी रात!

थाने के चौराहे का वह लंगड़ भूज बड़ी रात तक अपनी खंझड़ी बजाता हुआ गाता रहा: अरे कैसे दिन काटें प्रभु जतन बताये जा! जतन बताये जा.....। कैसे दिन कटिहैं?

□□

आधी रात बीत गयी।

हरिमाधव अपनी सांस रोके प्रतीक्षा में खड़ा था।

एक घड़ी और!

हरिमाधव का दिल बहुत तेजी से धड़कने लगा था। फिर रात का पिछला पहर। हरिमाधव जैसे पागल हो जायेगा।

वह तेजी से घर के बाहर आया, उसे सुनायी पड़ा,पाकड़ के वृक्ष पर दो-एक बगुले आये हैं। और पाकड़ के पीले पत्ते जमीन पर गिर रहे हैं।

वह उसी शहीद रोड पर भागा। भागता चला गया। जहां शहीद रोड के मोड़ पर बकाइन की एक झाड़ी थी, उसके पास ही कोई एक

चीज चमकी। उसने देखा, चन्द्रमुखी की लाश। रक्त में डूबी हुई। हरिमाधव जैसे संज्ञाहीन होने लगा।

पूर्णमासी का चांद धूमिल होकर पश्चिम में ढल गया था। उसकी अन्तिम किरणें चन्द्रमुखी को छू रहीं थीं। उसका अनन्त में सदा के लिए खुला हुआ मुख। उसके सोलहों शृंगार, उसका रक्तरंजित परिधान— सब पर चांदनी की वही अन्तिम किरणें।

अपराधी की तरह हरिमाधव अपने घर में रोता रहा। चन्द्रमुखी की लाश उसी पाकड़ के नीचे रखी थी। सारा कुंअर गांव और रांका जमैइतापुर वहां निस्तब्ध घिरा खड़ा था। सारे लोग गवाह थे कि चन्द्रमुखी की हत्या सुविक्रमपुर के राजा गजेन्द्रप्रताप सिंह ने की है। हत्यारा! अपराधी! जनता हत्यारे के लिए सारे सबूत लिये खड़ी रही।

लाश का पोस्टमार्टम हुआ। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट चिता की ज्वाला की तरह धधक रही थी।

तीन सौ छिहत्तर और तीन सौ दो!

गजेन्द्रप्रताप सिंह और उसके चार आदमियों को हथकड़ी में कसकर थाने की हवालात में बन्द कर दिया गया था।

हरिमाधव उसी पाकड़ के वृक्ष के नीचे अपने सारे कागजात, सबूत, गवाह, सबको संभाले हुए बैठा था। अभी अपराधियों को उसी तरह बांधे हुए जिले के हाकिम के सामने हाजिर किया जायेगा। फिर जेल। काल कोठरी। मुकदमा, सबूत और गवाह, फिर अपराधियों को फांसी। सहसा हरिमाधव के ऊपर पाकड़ के पर बैठे हुए किसी बगुले ने बीट कर दी। ठीक उसके माथे पर। वह तिलमिला उठा। ऊपर देखा तो वृक्ष का बगुला अदृश्य था।

सारी तैयारी करके दोपहर होते-होते जब वह जिले के लिए रवाना होने लगा, उसी समय पुलिस हेडक्वार्टर से कोई सरकारी आदमी आया। हरिमाधव को धीरे से कागज दिया।

ऊपर से आया है कि यह केस दबा दिया जाये! हरिमाधव के सामने उसी क्षण अन्धकार फैल गया। वह लड़खड़ा कर वहीं अपनी कुर्सी पर गिर गया।

धीरे-धीरे कुछ ही देर में पाकड़ के वृक्ष के ऊपर वही असंख्य बगुले उड़ कर आ गये। वही शोर, वही बीट! पाकड़ के पीले-पीले पत्ते बहुत तेजी से वहां झरने लगे।

हरिमाधव की जब चेतना लौटी तो उसने देखा, उसके ऊपर बगुलों की बीट बरस गयी है। वह घृणा से तिलमिला उठा।

उसने दौड़ कर अपनी बन्दूक उठायी। बेहताशा वह बगुलों पर फायर करने लगा।

न जाने कितने बगुले पाकड़ के नीचे ढेर हो गये। हरिमाधव के कपड़े पर, माथे और हाथ पर न जाने कितने खून के कतरे गिरे, पर उसने देखा, पाकड़ के वृक्ष पर से अब बगुले उड़ नहीं रहे हैं। वे महज चीखते हैं, चिल्लाते हैं और आकाश में मंडरा कर फिर उसी पाकड़ पर बैठ जाते हैं।

(१९६०)

सुन्दरी

दसईं ने कल रात फरीदपुर गांव छोड़ दिया।

सरजू के तट पर पंचपेड़वा, वहीं धंजौल, मइन्दी और फरीदपुर गांव के मुदे फूंके जाते थे।

दूसरी ओर उसी मुर्दघट्टे के पास अकेला आम का पेड़। उसी के नीचे दसईं ने झटपट अपनी राममड़ैया छा ली।

दसईं की औरत समुन्नरी मड़ई में सोएगी, और उसके दोनों बच्चे, ऊधो और दुलरी, पिता के संग बाहर ज़मीन पर सोएंगे। धरती माई बिछौना, अकास मामा ओढ़ना!

दसईं ने कल रात समुन्नरी को मुहैं-मुंह बहुत मारा था। उसका मुंह आज तक फूला हुआ है।

गांव छोड़, उस आम के पेड़ के नीचे बसकर, इस नये घर में अब तक न चूल्हा गड़ा, न जला। आहत समुन्नरी तब से कराहती हुई फूस की चटाई पर पड़ी हुई है। दसईं और उसके दोनों बच्चे तब से चोरी-चोरी पंचपेड़वा के आम और बाबू की बगिया का फरेंदा खा-खाकर सरजू का पानी पी रहे हैं।

संध्या समय दसईं ने समुन्नरी के उदास मुख को देखा। मड़ई में आग तो थी नहीं। दसईं अपने अंगोछे के सिरे को गोल लपेटकर, मुंह की भाप से फूंक-फूंककर, उससे समुन्नरी के मुंह को सेंकने लगा। समुन्नरी एक लम्बी सांस लेती हुई उठ बैठी।

दसईं सरजू के किनारे गया।

सरजू नदी धीरे-धीरे बढ़ रही थी। बहुत तेज़ पुरवाई थी। नदी के किनारे कांकर में झींगा पकड़ने का अनमोल अवसर था।

मुश्किल से आध ही घण्टे में दसईं ने सेरों झींगा अपने फांड़ में भर लिये। घटवार से हाथ में आग लिये हुए वह जल्दी-जल्दी अपनी मड़ई पर पहुंचा। झटपट झींगा साफ कर वह आग जलाने चला और समुन्नरी मसाला लिये हुए आयी। धरती में खुदे हुए उस चूल्हे के आस-पास रेखा खींचकर उसने चौका कायम कर लिया।

पंचपेड़वा पर दो-चार गांव के लोग आकर, सुरती-तमाखू पी रहे थे। कमर-पीछे हाथ बांधे टहलते-टहलते दसईं वहां आया।

चिलम पीते-पीते दसईं ने दुखी होकर कहा कि फ़रीदपुर गांव भी अच्छा नहीं।

ठाकुर की बड़ी बखरी में समुन्नरी सुबह-शाम चौका-बरतन करने, दुपहरी में अनाज उठाने-धरने का काम करती थी; सो बब्बन बाबू की नज़र समुन्नरी पर खराब हो गई। हाय, क्या जमाना हो गया! किसी की बेटी-बहू मेहनत-मजूरी करके दो टुकड़ा रोटी भी चैन से न खाने पावे। एक ने बीच ही में दसईं को टोककर दूसरे की ओर आंख मारते हुए कहा, "समुन्नरी भी तो कम नहीं है, ठाकुर की बखरी में मर्दों से ठिठोली करती रहती है!"

"वह तो उसका सुभाव है, बबुआ" दसईं ने बताया, और यह कहते-कहते वह गुस्से से भर गया कि बब्बन बाबू ने समुन्नरी का हाथ क्यों पकड़ा। वह हंस-बोल ले, पर बब्बन बाबू उससे क्यों छेड़खानी करते हैं? कहां राजा कहां परजा!.....'परजा का मतलब यह नहीं कि उसके पास अपनी इज्जत ही नहीं। परजा के पास तो वह है, बबुआ, कि कोई उससे आंख न मिला सके। हम अपना रकत सुखाते हैं, ताकि बाग-बगइचा में फूल खिलें, खेत-क्यारी में धान लहलहायं! मुला अब का बताई?बबुआ, हम तो किसी की बहू-बेटी से आंख नहीं मिलाता। बाबू लोगन कै औरत चाहे सुन्दर भी न हों, पर छिपा रखेंगे उन्हें दो अंगना भीतर, कोट में। मुला हमार औरत अगर सुन्दर है, तो वह गांव की भौजी है का?"

समुन्नरी छः बच्चों की मां है। दसईं का खयाल है कि समुन्नरी जैसी सुन्दर औरत उस गांव-जवार में नहीं है। पर सब उसे क्यों इस तरह निहारते हैं? दसईं बेचारा क्या करे? उसे कहां लेकर भाग जाए? हाय, सतयुग-त्रेता का वह ज़माना कहां गया कि, परतिरिया बहिनीं, सुतनारी, सुनु मूरख ये कन्या चारी; इन्हंहि कुदीठ बिलोके जोई, ताहि बधे कुछ पाप न होई।

समुन्नरी इतनी सुन्दर है तो इसमें दसईं बेचारे का क्या कसूर है! लोग उससे खामखाह गांव छुड़ा देते हैं। वह कब चाहता है कि समुन्नरी सुन्दर दीखे? तभी तो वह आये-दिन समुन्नरी को मुंहैं-मुंह मारता है। उसका मुंह नोचता रहता है। बदन पर वही मोटिया की एक धोती और काला फटा झुलवा, कलाइयों में मुश्किल से कांच की चार-छः मोटी चूड़ियां, बस, न बदन पर कहीं एक गहना, न अलंकार!

पर समुन्नरी थी कि उसकी अथक जीवन-शक्ति का कहीं आर-पार ही नहीं मिलता था। सरजू नदी गरमी में सूख जाती है, पर समुन्नरी तो समुन्दर है, वह आज तक कभी नहीं सूखी। उसमें केवल ज्वार-भाटा ही उठता है। अभाव और यातना से कुछ भाप बनकर आंसुओं की शक्ल में धीरे-धीरे ऊपर उड़ जाता है। और ऊपर जाकर वह बादल बनकर कहीं छा जाता है, और सरजू के उस तट की सारी नंगी-जली धरती पर बरस जाता है।

समुन्नरी काम करती तो उसके शरीर में इधर-उधर, पैर से लेकर बांह और कलाइयों तक, छोटे-बड़े अनार फल आते हैं। कभी आंख में सावन-भादों, कभी वसन्त। हाथ में घड़ा भरकर चलती, सर पर कठिन बोझा उठाती, अथवा फांड़ बांधकर खेत में कुदार चलाती तो समुन्नरी के आंचल में जैसे दूध-अन्न की बंधी गठरी खिसककर खुलने लगती। हंसती तो लगता, समुन्नरी कभी दूब की छड़ी से भी नहीं छुई गई है।

□□

झींगा-भात खाकर ऊधो और दुलरी ज़मीन पर कथरी बिछाकर सो गए। समुन्नरी ने केवल भात का मांड़ पिया, पर पेट भर पिया।

समुन्नरी दसईं की तरह झींगा-मछली, कलिया, चौगड़ा थोड़े खा सकती है। हां, दसईं और बच्चों के लिए बना अलबत्ते देती है। यह और बात है। उससे और समुन्नरी से क्या मतलब! अरे, समुन्नरी तो अहीर की लड़की है, ग्वालिन है, ग्वालिन !..... हम तो मथुरा की ग्वालिन, हम तो मथुरा की ग्वालिन..... बेंचन जात दही रे दही.... और दसईं कुर्मी है, कुर्मी— वह भी गुजराती नहीं, जैसवार।

समुन्नरी मांड़ पीकर बच्चों के साथ वहीं बाहर ही सो गई। दसईं चौधरी भर-पेट खूब चांड़-चांड़कर झींगा-भात खाकर होंठ में खैनी ठूंसकर छैला की तरह गुनगुनाते हुए मड़ई से आगे बढ़ा, 'बिना मोती के चैना पड़त नाहीं!.....

समुन्नरी ने दसईं राम को जरा सा भी टोका नहीं। वह जानती थी, बूढ़ऊ छैला गुनगुनाते हुए बागों में चोरी से आम बीनने जा रहे हैं। भूल में कई बार समुन्नरी ने दसईं को टोककर देखा था कि वह किस तरह उससे पिटी थी।

खूब लोट-लोटकर पुरवाई बह रही थी.....भुइयां लोट बहै पुरवाई, सूखी नद्दी नाव चलाई....सरजू नदी की धार से थपा-थप और हल्ल-हल्ल की तेज आवाज उठ रही थी। ऊंचे कगार से बेतरह टकराकर इस तरह भ्रां-भ्रां कर रही थी, जैसे असंख्य भूत-पिशाच पंचपेड़वा के मुर्दघट्टे से उठ-उठ के, कगार से सर टकरा कर सारी दिशाओं में उड़ रहे हों। ज़मीन में लोटती हुई पुरवाई धूल के पंख बांधे जैसे फुंफकारती हुई नागिनें हों। और पंचपेड़वा के हर पेड़ पर एक भूत, एक तेली-मसान, एक जिन्नात, एक औघड़ और एक पिशाच! बाबू के बाग में मुआंचिरई अपने जोड़े के संग भयावह स्वर में बोल रही थी, खोदो तोपो, मुआं-मुआं !.....दूर कहीं सरजू के कगार पर कोंहरडिग्गवा हूं-हूं कर रहा था। घाट की ओर सियार आपस में बड़े क्रोध से कटकटा-कटकटा कर लड़ रहे थे। नदी में कोई लाश उन्हें मिल गई होगी। हाय राम, कितना भयानक और डरावना था वह सारा! यह समुन्नरी उस सब की अभ्यस्त हो गई थी। उसके वे नादान बच्चे भी, दस साल का ऊधो और छः साल की दुलारी।

समुन्नरी वहीं कथरी पर लेटी हुई आसमान में शून्य में यूं ही,

बिना किसी लक्ष्य, भाव अथवा अर्थ के विहार कर रही थी। उसने देखा, आसमान में तारे हैं, नक्षत्र हैं, इतने सारे! हां, सब के एक-एक नक्षत्र, एक-एक अपना भाग्य!..... पर उसका नक्षत्र कौन है? समुन्नरी उन असंख्य झिलमिलाते हुए नक्षत्रों में अपना नक्षत्र ढूंढने लगी। ये नक्षत्र तो सब बड़े-बड़े हैं। मेरा नक्षत्र तो बहुत छोटा-सा होगा! हाय, कहां खो गया है? कौन है उनमें मेरा? समुन्नरी गरदन उठाती हुई दूर देखने लगी, दूर पश्चिम की ओर, जहां एक नक्षत्र आसमान से टूटकर ज़मीन की ओर आते-आते सहसा बुझ गया। आह! वही समुन्नरी का नक्षत्र था, वह अब आसमान से टूटकर कहीं उस अभेद्य अन्धकार में गायब हो गया। तो.....

समुन्नरी उसी ओर देखने लगी। उसी ओर उसकी ससुराल का वह गांव है, तिलकौरी। सौ घर का पक्का अहिराना। उसके ससुर का घर गांव के बीचोबीच है। दरवाजे पर नीम का खूब छतनार पेड़ है। दो खण्ड का खपरैल का मकान। दीवारों में पक्की ईंटों की कार्निस। दरवाजे पर चार बैलों की घारी। दाएं भैंस-गायें बांधी-दुही जाती हैं, बाईं ओर पक्की चरन है।

□□

मेरे ससुर के तीन लड़के। बड़कू का बियाह माझा में हुआ है। बड़की खूब फाग गाती थी। मंझली उत्तर की लड़की थी, कैसी काली-काली आंखें थीं! एक सांस में दस सेर जड़हन का चिउरा कूटकर फेंक देती थी। और, छोटकी मैं थी। अपने दादा के यहां से जब उस घर में गौने के डोले पर चढ़कर आयी, तब मेरा वो कितना छोटा था! ठीक से धोती बांधना भी तो नहीं आता था; लांग खुल-खुल जाती थी। गांव के लड़कों के संग जब वो भैंस-गोरू चराने जाता था, तब मैं ओखली पर खड़ी होकर जंगले से उसको निहारती रह जाती थी। उस बेचारे को क्या पता कि मैं उसकी दुल्हन हूं। लेकिन नहीं, पता तो ज़रूर रहा होगा, हां उसका अनुभव अलबत्ता नहीं था।..... हाय! कितना अच्छा नाम था उसका!..... पर उसका नाम क्यों लूं?..... न जाने कितने पूर्व जन्म के पाप से इस भव-सागर में आ कूदी, अब उसका

नाम लेकर क्या होगा?..... यह दसईं कुर्मी.....नहीं-नहीं, इसका भी नाम अब क्यों? यह तिलकौरी के पड़ोस वाले गांव गोबिनापुर में रहता था। तब यह कलकत्ता से नौकरी करके पहली बार अपने गांव आया था। मेरे घर से इसके यहां का आना-जाना होता था। मेरे बड़कू के लिए यह एक छाता ले आया था। ससुर को इसने चूना रखने के लिए चांदी की चुनौटी दी थी। दरवाजे के किवाड़ के पीछे खड़ी थी, तभी इसने मुझे पहली बार देखा था। मेरे करम में आग लगे, तभी मैंने भी इसे देखा। तब से सुबह-शाम रोज़ यह मेरे घर आने लगा। मेरे दरवाजे पर फाग गाया जाता। यह उस गोल का अगुआ गायक होता। मैं भीतर औरतों के गोल की अगुआ थी। होड़ में कभी-कभी सुबह हो जाती। एक बार मुझसे न रहा गया, मैंने भीतर से एक घड़ा पानी लाकर इसके ऊपर उंड़ेल दिया। इसने दौड़कर मुझे पकड़ना चाहा तो इसका दायां हाथ मुझसे पूरी तरह छू गया।.....मेरे दरवाजे पर गरमियों के दिन में धोबी का नाच हो रहा था। मैं बाहर ओसारे में बैठी थी, और यह सफेद कुरता पहने, खूब जुल्फी झारे, भकाभक बीड़ी पीते हुए नीम के चबूतरे पर बैठा था। धोबी का लड़का कमर में बड़े-बड़े घुंघरू बांधे हुए नाच रहा था। धोबी के नगाड़े के साथ कटोरा बहुत तेज घनघना रहा था— धिन्-तांड़े-आंने-ना-ने..... धिनतांड़े.....आंड़े.....

निबिया क पेड़वा जबै निक लागै,
जबै निक लागै,
कि जब निबकौरी न होय.....
हाय राम, जब निबकौरी न होय!
फुलवा क सेजिया जबै निक लागै,
जबै निक लागै,
कि बगले बुलहवा होय.....
हाय राम बगले बुलहवा होय!

इसने मेरी ओर देखकर धोबी के लड़के क सामने मारे खुशी के एक रुपया फेंक दिया। धोबी का लड़का और मस्त होकर नाचने लगा। मुझे न जाने क्या हो गया, मैं उसी रात इस चौधरी के साथ उस घर से

भाग निकली!.....यह मुझे लेकर कलकत्ते की ओर चला। मुझे संग लिये-लिये कहां-कहां नहीं छिपा! पर जहां किसी की आंख मुझ पर उठी नहीं कि यह मुझे लेकर वहां से भाग पड़ता था। जब सब शान्त हो गया, तब यह मुझे लेकर सरजू के उस पार मांझे में रहने लगा। मैं दो बच्चों की मां हुई। एक दिन वहां पुलिस के एक सिपाही ने मुझसे मज़ाक किया। इसने सामने से ही सुन लिया; सिपाही के ऊपर लाठी लेकर टूट पड़ा। वह भाग गया, तो जी भर के मुझे पीटा.....फिर मुझे लेकर सरजू के इस पार चला आया।.....

समुन्नरी अब छः बच्चों की मां!

पर दो ही उसके सामने जीवित सो रहे हैं। शेष चार इसी सरजू में.....समुन्नरी फफककर रो पड़ी।

सरजू-पार के आसमान से फिर एक नक्षत्र टूटा! समुन्नरी उसे देखकर डर गई।

□□

पुरवाई कुछ थम गई थी। आधी रात से ऊपर का समय हो रहा था। मुआंचिरई बोलती-बोलती कहीं उड़ गई थी। समुन्नरी ने अपने आपको देखा, जैसे अपने को पहचान रही हो। यह वही समुन्नरी है क्या? आंसू पोंछती हुई वह उठ खड़ी हुई। रात की उस भयानक निर्जनता में वह चारों ओर घूम-घूम कर देखने लगी.....आस-पास के गांव..... फिर उनसे दूर के बाग, वह धंजौल!

संध्या समय गांव के बेचारे पण्डित दसईं के घर आकर समुन्नरी के तीसरे लड़के भुलई को भभूत दे रहे थे। उधर से कन्धे पर कुदार रखे दसईं चौधरी आया। समुन्नरी को उसके पास बैठा देखकर वह आग-बबूला हो गया। पचास गालियां दीं पण्डित को। समुन्नरी को हाथ-पैर बांधकर मारा। गांव वालों ने जब उसे पकड़वाकर पंचायत में बुलाना चाहा, तब दसईं अपने घर में आग लगाकर बच्चों सहित सुकुल के बाग में मड़ई डालकर रहने लगा। वर्षा के दिन, टूटी-सी दसईं की मड़इया। भुलईं को एक रात सांप ने डस लिया।.....

दसईं फिर बैरमपुर में जा बसा। एक वर्ष बाद, पहलाद नायक पर समुन्नरी की ओर से शुबहा होने पर दसईं ने नायक का खलिहान फूंक दिया। कोई न जान सका कि यह दसईं चौधरी की करतूत है, क्योंकि उसके चार ही दिन पहले दसईं ने अपने गले में तुलसी की कण्ठी बांधी थी। फिर बैरमपुर छोड़कर चौधरी ने लोहा डांड़ के टीले पर अपनी मड़ई छायी। पास ही हाजीपुर गांव का कब्रिस्तान, और टीले पर न जाने कब का बना हुआ कुआं था। वहां तीन ही महीने के भीतर समुन्नरी की गोद का बच्चा और उसके पहले की लड़की, दोनों चटपट में चल बसे।

फिर मइन्दी गांव!

फिर उसे छोड़ सरजू का घाट!

चौथे बच्चे की वहां आहुति!

भोर होने को थी। समुन्नरी अपने दोंनो बच्चों के बीच उनके सर पर हाथ रखे हुए मौन बैठी थी।

दसईं अंगोछे में बहुत-से पके हुए आम बांधे लौटा।

□□

उस दिन असाढ़ की अन्तिम रात थी। शाम से सुबह तक मूसलाधार पानी बरसा। दसईं की मड़ई क्या उसके सामने रुकती? थूनी-थाम के साथ मड़ई आधी रात के समय मचमचाकर बैठ गई।

ऐसी घटना दसईं के लिए कोई नयी न थी। ऐसा तो हर बरखा में हुआ है। क्या वह मुकुल का बाग, क्या लोहाडांड़, और क्या वह सरजू का घाट! दसईं उस रात अपने बच्चों समेत जागा हुआ बैठा था। मड़ई जब धीरे-धीरे गिरने लगी, तो एक ओर दसईं और दूसरी ओर समुन्नरी ने उसे हाथ देकर अपने ऊपर बचा लिया। सब उसके नीचे बैठे रहे पर समुन्नरी की ओर उतरहिया के झोंके सीधे बौछार मार रहे थे। वह अपनी जगह छोड़ नहीं सकती थी, दाएं-बाएं थूनी-बेंडा और सामने बरतन-भांड़ा।

समुन्नरी आधी रात से सुबह तक उसी तरह बौछार के झोंकों से भीगती रही। दसईं दूसरी ओर बैठा हुआ इन्द्र और दैव को घिना

फोर-फोरकर गालियां देता रहा। दसईं के लिए उस वर्षा का क्या महत्त्व! मजदूर आदमी, न अपना खेत, न अपनी बारी। ऊपर से बेचारी समुन्नरी उस बरखा में नाहक भीग रही थी।

"अच्छा-अच्छा, राम-राम कह, समुन्नरी। उत्तर की ओर दैव कट रहा है। पानी कुछ पटाते ही छप्पर उठाकर तुझे इधर कर लूंगा।..... बाबू की बगिया में लढ़ियन आम गिरा होगा। महन्दी के नाले में बड़ी-बड़ी मछली चढ़ रही होंगी।"

दसईं ने समुन्नरी को उठाना चाहा। वह हाथ-पांव भींचे थरथर-थरथर कांप रही थी। सहारा देकर दसईं ने उसे दूसरी ओर किया और स्वयं लाठी-अंगोछा लेकर बाहर निकल पड़ा।

सुबह बरखा की बूंदी टूटी। दसईं एक ओर लाठी में पांच सेर का रोहू और अंगोछे में आम लटकाए आया।

समुन्नरी दसईं को देखते ही हंसने लगी, यद्यपि वह ठण्ड से बेतरह कांप रही थी। मछली-आम रखकर दसईं गिरे छप्पर के भीतर दियासलाई ढूंढने लगा।

दियासलाई पानी में गिरकर भीग गई थी।

चटपट दसईं ने समुन्नरी की मदद से थाम-थूनी किसी तरह ठीक कर मड़ई खड़ी कर ली। और आग के लिए फरीदपुर गांव की ओर भागा।

वहां लाला के ओसारे में लोग बैठे हुए गांजा-चिलम पी रहे थे।

वहां से आग लेकर दसईं जब लौटने लगा, तो किसी ने कहा, "दसईं, बब्बन बाबू ने तुम्हारी समुन्नरी को कान का झुमका दिया था, तुझे दिखाया था कि नहीं भला?"

दसईं मन मार कर रह गया। हाथ की आग मानो उसके बदन में लग गई।

मड़ई पर पहुंचकर वह समुन्नरी को बुरी-बुरी गालियां देने लगा। समुन्नरी मड़ई में भीगी चटाई पर हाथ-पांव बांधे पड़ी थी। दुलरी ने उसे कथरी ओढ़ा दी थी। तेज बुखार से कराहती हुई वह हू-हू कर रही थी।

ऊधो बैठा आम चूस रहा था, और मक्खियों से घिरा हुआ था।

बोरसी में आग सुलगाकर दसईं का जी न माना। वह मड़ई में घुसा। चार-छः मिट्टी के बरतन थे। दो-तीन खाली पड़े थे, शेष में किसी में मटर, किसी में जौ-केराई। एक मोटरी में कुछ फटे-पुराने कपड़े बंधे रखे थे। दसईं ने उसे खोल-खोलकर देखा। उसमें कहीं भी उसे झुमका न मिला। हां, उन बच्चों के दो-एक फटे-पुराने कपड़े उसमें अवश्य मिले, जो दसईं की उस गृहस्थ से सदा के लिए मुक्ति पा गए थे।

दूसरी ओर टिन का पिचका हुआ, न जाने किस युग का, एक छोटा-सा बकस पड़ा था। समुन्नरी के इस बकस में चार आने वाला ताला लगा हुआ था, जिसकी कुंजी समुन्नरी अपने गले में हार के रूप में पहने रहती थी। दसईं ने ताले को मुट्ठी से ऐसा मरोड़ा कि वह बेचारा कुण्डे सहित बकस से चिचियाता हुआ अलग हो गया।

दसईं ने बकस को देखा, उसमें वैसा कुछ नहीं था। किसी गहने की छाया तक भी नहीं थी।

फिर समुन्नरी ने अपने उस बकस को क्यों इस तरह बन्द कर रखा था?..... एक कजरौटा, एक काठ की डिबिया..... डिबिया में यह जरा-सा सिन्दूर और यह एक इतनी बड़ी टिकुली!.....

दसईं निस्पंद, मौन, वहीं बैठा रह गया। उसके सामने उसकी जन्म-भूमि गोबिन्दपुर, तिलकौरी गांव में समुन्नरी का वह घर, कलकत्ते में उसकी नौकरी और वह कमाई, उसके दिवंगत बच्चे, सब-के-सब नाच गए।

समुन्नरी के माथे पर हाथ रखकर दसईं ने भरे कण्ठ से पुकारा, "समुन्नरी! रे समुन्नरी!" समुन्नरी का माथा तेज़ बुखार से जल रहा था। वह बेसुध-सी पड़ी थी।

दसईं को कुछ न सूझा। ढाई रुपये में उसने वह रोहू मछली जयन्दीपुर के पठान के हाथ बेच दी।

सीधा भागा हुआ हंसवर बाजार गया। एक रुपये की दारू खरीदी, एक रुपया बड़े हकीम को देकर दवा ली, और आठ आने के चावल लिये हुए वह तीसरे पहर अपनी मड़ई पर लौटा।

उसने देखा, समुन्नरी बैठी हुई है। उसकी आंखों में काजल लगा है। मांग में सिन्दूर भरा है, और माथे पर वही गोल, लाल-लाल टिकुली।

हाय! कितनी सुन्दर है यह!

पर क्यों यह इतनी सुन्दर हुई?

दसईं एक हाथ में दारू और एक हाथ में दवा और चावल लिए हुए खड़ा उसे देखता रह गया।

.....मुला हमार औरत अगर सुन्दर है तो वह गांव-भर की भौजी है का? हंसना-बोलना तो उसका सुभाव है, बबुआ!..... समुन्नरी को लेकर वह कहां भाग जाए? हाय, सतयुग-त्रेता का वह जमाना कहां चला गया जब.....

दसईं ने दवा-दारू उसके सामने रखकर समुन्नरी के माथे पर हाथ रखा। बुखार उसी तरह तेज था। दसईं की ओर समुन्नरी ने देखा तो वह डर गया।

"तुमने मेरा बकस क्यों खोला चौधरी? उसमें तुम्हें क्या मिला? तुम मुझ पर विश्वास क्यों नहीं करते?"

समुन्नरी भला दारू क्या पीती! जो कभी नहीं खाया-पिया, सो अब क्यों?

दसईं से उसने उस अनुच्चारित स्वर में कहा, जिसमें वाणी होती है पर कथन नहीं, "सुनो हो चौधरी! मैं अपने घर-द्वार, सास-ससुर और पति को धोखा देकर तुम्हारे संग भाग निकली थी। ठीक है, जैसा करम में बदा था, वैसा हुआ। मैं तुमसे एक नहीं, छः बच्चों की मां हुई, और तुम्हें मुझ पर फिर भी कभी विश्वास नहीं हुआ..... ठीक ही है। मुझ पर क्यों कोई विश्वास करता? विश्वास के लिए मेरे पास है ही क्या? उसमें तो मैंने पहले ही आग लगा दी थी..... पर मेरे कारन मेरे बच्चे..... खैर, फिर भी मेरे ये दो बचे हुए लाल!"

समुन्नरी ने अपने दोनों बच्चों को अंक में भर लिया। अपने माथे की वह बड़ी-सी गोल टिकुली दुलरी के माथे पर लगाकर वह उसे चूमने लगी, "सुनो चौधरी! मेरी बेटी की सादी में मेरी ओर से यही टिकुली दहेज में दे देना!.....

समुन्नरी अगले दो दिनों तक तज बुखार में बेसुध पड़ी रही। दसईं दिन में भी वहां भय खाने लगा— ऐसा भय कि उसे हरदम लगता था कि उसकी मड़ई के चारों ओर असंख्य भूत-प्रेत, पिशाच और जिन्नात की सेनाएं डोल रही हैं। तीसरे दिन सुबह दसईं चौधरी अपनी समुन्नरी को कन्धे पर लादे हुए फरीदपुर गांव में आ बसे।

पर समुन्नरी और कुछ न बोली। वह आखिरी शृंगार करके उसकी बरात मानो विदा हो गई।

पंचपेड़वा घाट पर समुन्नरी को फूंककर दसईं के संग गांव के लोग उसके दरवाजे पर आ बैठे। दो क्षण के बाद, लोग वहां से उठ कर चले गए। दसईं समुन्नरी के दाह का कपड़ा अपने गले में बांधे हुए वहीं बैठा रह गया, जैसे उसकी कमर ही टूट गई हो। फिर उसने देखा, मानो हाथ में पीने का पानी लिए हुए घर में से समुन्नरी निकली है, उसी तरह हंसती हुई, माथे पर वही टिकुली— चौधरी, उठो, लो पानी पी लो..... उठो!.... अरे अब तो मेरा विश्वास करो!

(१९५९)

डाक आये थे

मरने से पहले या मृत्यु के बाद.....
क्या फर्क पड़ता है!
एक बार...बस, एक बार।
एक बार...बस, एक बार।
तो क्या हो जायेगा....? पता नहीं...

फारेट साहब की इच्छा होने लगी कि वह स्वयं... अपने आप करवट बदल लें। पर इतनी भी इच्छा अब किस कदर असंभव है। मन हुआ कि जोर से हंस पड़ें। पर अब उतना भी तो जोर नहीं। और घाव का इस कदर दर्द!

जी हुआ कि लेटे-लेटे किसी को पुकारें। पर वह भी संभव न हुआ। तब उन्होंने सिरहाने घंटी का बटन दबाया। बूढ़ी मां आयीं। आकर खड़ी रह गयीं।

"मेरी इच्छा होती है मां....।"

"क्या बेटवा?"

"वह आयेगी, मुझे विश्वास है।"

मां का चेहरा उदास हो गया। अजब ढंग से कराह ली। फारेट साहब मुस्कराये, तो मां फफककर रो पड़ीं। फारेट साहब ने मुंह ढक लिया। कुछ क्षणों बाद मुंह खोला, तो देखा बूढ़ी मां फर्श पर बैठी हुई न जाने क्या शून्य में निहार रही हैं।

"मां, जरा खिड़की खोल दो।"

मूर्तिवत् मां ने सामने की खिड़की खोल दी। पुरवा हवा का ठंडा झोंका कमरे भर में दौड़ गया। कमरे की सारी चीजें जैसे उस क्षण कांप गयीं। कमरे की गंध धीरे-धीरे कम होने लगी। फिनायल, स्प्रिट और तरह-तरह की औषधियों की गंध, पिछले कितने दिनों से उस कमरे में बसी रही है।

मां ने रुंधे कंठ से कहना शुरू किया— क्या जरूरत थी उसे यहां बुलाने की.... और वह यहां कौन-सा मुंह लेकर आयेगी? वह नहीं आयेगी। कितनी चिट्ठियां तो लिखी गयीं... सबने तो लिखीं चिट्ठियां... बारह साल क्या, चौदह साल बीत गये.... बड़ी बेटी की शादी में जब नहीं आयी... ऐसी कठकरेजी.....!

"देख लेना इस बार जरूर आयेगी।"

"हर बार तू यही रट लगाये रहता है।"

मां के स्वर में गुस्सा उभर आया। फारेट साहब की हंसी ने उसमें आग लगा दी। मां बड़बड़ाती हुई कमरे में चली गयीं। खिड़की के पल्ले रह-रह कर खड़कते। बाहर से हवा की सांय-सांय सुनाई पड़ती। दूर पीपल के पेड़ से आंधी की आवाज उठती। कितनी-कितनी आवाज.....

"खिड़की बंद कर दूं पापा!" एकाएक कमरे में रोशनी हुई और गीता बेटी का माथा चमका।

"अच्छा लगता है, खुली रहने दो।"

"खाने को क्या लाऊं?"

"पेट अच्छा नहीं है,दवा खा ली है।"

चुपचाप गीता जाने लगी। फारेट साहब ने सिरहाने से 'स्विच ऑफ' कर दिया। कमरे में फिर वही घुप अंधेरा फैल गया। अंधेरे में वही आकृतियां, वही संवादहीन बातें, वही चुप आवाजें। वही अनहद सवाल-जवाब, वही आंख-मिचौली, वही अनायास एक बात से दूसरी बातों का निकलते जाना। सहसा रसोई में कोई चीज गिरी। मां की आवाज आयी। फिर न जाने कहां एक खटका हुआ। हवा के झोंके से दवा की शीशी गिरी। मुहल्ले की बिजली चली गयी। अंधेरा और

गहरा हो गया।... बिल्कुल ऐसी ही रात थी वह। पहले सिविल लाइंस, देहरादून के उस बंगले की बिजली गयी थी... हां, तब....

□□

तब मुझे लोग फारेट साहब नहीं डीफो साहब (डिस्ट्रिक्ट फारेस्ट आफिसर) कहते थे। मां मेरा आधा नाम लेती थीं— यशोदा। पत्नी, हां,.... सुलोचना, मेरा शेष नाम लेती थी— नंदन। हां, मेरा तब पूरा नाम था मिस्टर यशोदा नंदन डी. एफ. ओ. .... हां....

बगल के कमरे में फिर कोई चीज गिरी। हवा उस घुप अंधेरे में सांय-सांय कर रही थी। ऐसी ही रात थी वह.....

बगल के कमरे में आल्मारी का ताला तोड़ा जाने लगा था। दोनों लड़कियां मालती और गीता चीख पड़ी थीं। मैं हड़बड़ा कर उठा था। सुलोचना को जगाया। तब तक मां ने गुहार मचायी— चोर.... डाकू.... डाकू....

उस अंधेरे में टार्च की रोशनियां तीर की तरह कमरे में आर-पार होने लगी थीं। मैं बाहर दौड़ा— चपरासी- चौकीदार को आवाजें लगाते हुए। तभी मुझे किसी ने पीछे से लाठी मारी थी। गिर गया था। पूरे घर को वे लोग लूटने लगे थे। मैंने पुलिस को फोन करना चाहा था, तभी दूसरी लाठी मेरे सिर पर लगी थी। खून से तरबतर मैं भागा था, सुलोचना को बचाने के लिए। उसके तन-बदन के सारे गहने वे उतार चुके थे। अब उनका सरदार उसके साथ जबर्दस्ती करना चाह रहा था। उसके सारे कपड़े फट चुके थे। वह निर्वस्त्र पूरे कमरे और बरामदे में भाग रही थी। मां, मालती और गीता, इन तीनों को उन्होंने एक कमरे में बंद कर दिया था। वे तीनों कमरे के भीतर से चीख रही थीं। मैं रेंगता हुआ अपने कमरे में गया था। रिवाल्वर में गोली भर ली थी, तभी मेरी दायीं जांघ में गोली लगी थी। उस हालत में भी सुलोचना की रक्षा में मैंने रिवाल्वर चलायी थी। सरदार उसे छोड़ कर भगा था। पता नहीं, उस आलम में मैंने कितनी गोलियां चलायी होंगी— मुझे कुछ भी पता नहीं।

डाकू लूट-पाट के बाद चले गये— वह सब कुछ आधे घंटे के भीतर ही हुआ था। मगर वह तो जैसे एक दुर्घटना की शुरुआत थी। हां, और क्या कहूं। बेहोशी तो उस दिन आयी— लखनऊ के उस बलरामपुर अस्पताल में— जब मुझे यह खबर दी गयी कि मेरा दायां पैर और बायां हाथ जड़ से ही काट दिया जायेगा। होश आने पर सुलोचना को बुलवाया गया। उसने बड़ी निर्भीकता से दो टूक उत्तर दिया— जीना है तो हाथ-पैर कटाना ही होगा।

हाथ-पैर कटा कर फिर देहरादून वापस। उस दिन बंगले पर कितने लोग मुझे देखने आये थे। चीफ कंजरवेटर आफिसर..... कलक्टर....एस. पी. डी., एफ. ओ., टिहरी गढ़वाल..... असिस्टेंट डी एफ. ओ., नैनीताल... बरेली के ताऊ जी.... शहजहांपुर के बड़े साले साहब.... पर उसी शाम सुलोचना मेरे सिरहाने एक चिट्ठी छोड़ न जाने कहां चली गयी!.... हां, चली गयी....

□□

कमरे में रोशनी आ गयी। मां ने आकर खिड़की बंद कर दी।

"कुछ खाओगे नहीं बेटा?"

"दूध-भात खिलाओं तो खाऊं मां।"

"आज क्या हुआ है तुझे.... तुझे पता भी है कुछ!"

मां चली गयीं। हां, हां, पता क्यों नहीं है— दूध-भात तब से मना है इस घर में खाना। उस डाके की रात मैंने बच्चों के साथ दूध-भात खाया था।

सारा घर क्या— मां बगल के कमरे में सो गयीं। गीता इसी कमरे में, किनारे बिछे तखत पर बिस्तर बिछा कर बैठ गयी। वह चुपचाप स्वेटर बुनती रही।

फारेट साहब को सुलोचना की लिखी हुई वे तीन पंक्तियां याद आती रहीं :

"मेरी सारी जिंदगी अभी पड़ी है।
मैं इसे बरबाद नहीं कर सकती।
मैं सब कुछ छोड़ कर जा रही हूं।"

'छोड़ कर' और 'जा' के बीच कुछ लिख कर काट दिया गया था— इस कदर कि किसी तरह से भी पढ़ा न जा सके। पहले अनुमान था कि वह कटा हुआ शब्द है 'यूं ही'। पर जब फारेट साहब नौकरी से मुक्त कर दिये गये और उन्होंने एक अनाथ, अपंग और दया का जीवन बिताना शुरू किया, तब उन्हें लगा— वह कटा हुआ शब्द था— 'विवशत:'। पर बड़ी लड़की मालती की शादी पर जब उन्होंने सुलोचना को त्रिवेंद्रम पत्र लिखा— बुलाया— सबके खत गये— और जब वह नहीं आयी, तब उन्होंने अनुमान लगाया, जरूर वह कटा हुआ शब्द था सदा के लिए।'

गीता ने स्वेटर बुनते-बुनते कहा, "पिता जी, अभी सोये नहीं?.... आज बहुत दर्द है क्या?"

फारेट साहब के होंठों पर अब हंसी आती है, ऐसे प्रश्नों से।

बेटी ने ऊन के नये गोले को उठाते हुए कहा, "पिता जी... मंदिरवाली गली में पंजाबी स्टोर है। उसकी मालकिन ऊन और डिजाइन देकर स्वेटर बनवाती है— फी स्वेटर चार रुपये बनवायी। बच्चों के दो रुपये। ऐसा है पिता जी.... आप सो गये पिता जी? लाइट बंद कर दूं?"

गीता स्वेटर बुनती रही। हाथ लगा फंदा पूरा करके वह लाइट बुझा कर सो जायेगी— ऐसा उसने अपने आप से कहा। फ़ारेट साहब नींद का अभिनय करके चुपचाप पड़े थे। पर एकाएक दर्द से कराह पड़े। गीता दौड़कर आयी। कपड़ा उठा कर देखा— पीप भरे रक्त का एक लोथड़ा कटी हुई जांघ के ऊपर से नीचे खिसक रहा था। गीता ने देखा— घाव किस कदर बढ़ता-फैलता-फूलता जा रहा था। उसने पोंछ-पाछ कर के दवा लगानी चाही, तो फारेट साहब ने कहा, "तेरी मां इस बार जरूर आयेगी।"

"अब क्या आयेंगी?"

इच्छा हुई कि बेटी को रहस्य बता दें, पर मन मार के चुप रह गये।

फागुन की सुबह। कुहासा छाया था न जाने क्यों? पिछले दो-तीन दिनों से फारेट साहब की तबियत ज्यादा गंभीर हो गयी थी। कैंसर

बेहद बढ़ गया था। डाक्टरों ने आश्चर्य किया था— ये अब तक जिंदा कैसे हैं! सुबह ही सुबह दरवाजे पर एक रिक्शा रुका। उसमें से एक स्त्री एक पुरुष के साथ उतर कर पूछने लगी— "यहां कोई यशोदानंदन जी रहते थे?"

पर यहां लोग यशोदानंदन को नहीं— फारेट साहब को जरूर जानते थे। और घर का नंबर जरूर यही है— तीन बटे तेरह, गंदी गली, सहारनपुर, मोहल्ला मछुआ टोला।

अटैची केस लिये पुरुष और युवती दरवाजे पर खड़े इधर-उधर देख ही रहे थे कि मां बाहर निकलीं। सुलोचना ने मां को पहचान लिया। मां के पैर छुए। मां रो पड़ीं। दौड़ी हुई गीता आयी और मूर्तिवत् मां निहारने लगी। चौदह वर्ष बाद वही मां.....

सुलोचना ने पूछा— "उनकी मृत्यु कब हुई?"

मां-बेटी उन्हें एकटक निहारने लगीं। मां ने झट समझ लिया— ओ हो, तभी वह कहता था कि वह इस बार जरूर आयेगी, तो उसने किसी से लिखा भेजा था कि उसकी मृत्यु हो गयी। मां चुप रह गयीं। चुप नहीं, विष का घूंट पीकर चुप।

पुरुष के साथ सुलोचना घर में गयी। दो कमरों का वह गरीब घर। चारों तरफ सीलन और बदबू। आसपास का वह गंदा पड़ोस। तमाम मैले-कुचैले बच्चे कमरे में घुस आये थे। गली की दो औरतें आकर दूर खुसुर-फुसुर बातें करने लगी थीं। सुलोचना का दम घुटने लगा। पुरुष धुआंधार सिगरेट पीता रहा। पूरे वातावरण भर में अजब भय और रहस्य का भाव खिंचता चला जा रहा था। सुलोचना, मां और बेटी से प्रश्न करती, तो सब कुछ निरुत्तर रह जाता। कमरे की एक-एक चीज जैसे हिलने-डुलने लगती। सब कुछ सबके लिए मानो असहच हो रहा था। तभी मां फूट पड़ीं, "तू मेरे बेटे की मौत पर आयी है! यही तेरा व्रत था, जब वह मर जाये, तभी तू यहां अपना मुंह दिखाने आये! तो सुन...."

गीता ने दौड़कर दादी मां का मुंह थाम लिया।

दादी बेहोश हो गयीं.....

उसी दिन की रात..... वही रात!

मां-बेटी फारेट साहब को घेरे बैठी थीं। बगल के कमरे में सुलोचना और वही पुरुष। जैसे वह कोई घर नहीं, स्टेशन हो... बहुत दूर-दराज का स्टेशन... फारेट साहब को कभी होश आ जाता, कभी बेहोश हो जाते। पर होश और बेहोशी के अंतराल में झूलते हुए उस जीवन-धागे को जैसे वे कहीं बड़ी मजबूती और एहतियात से पकड़े हुए थे। होश आते ही कहते– "उसकी क्या गलती.... उसने बहुत समझदारी और बहादुरी से काम लिया...."

बगल के कमरे से पुरुष की आवाज आती– "तुम इस कदर झूठ बोलती हो, मुझे यह पता नहीं था.... बताओ, तुमने क्या कहा था?"

सुलोचना की बोली सुनने के लिए फारेट साहब कान उटेरे हुए थे। पर उसकी कोई बोली नहीं सुनाई पड़ती। जैसे स्टेशन से सारी गाड़ियां सदा के लिए गुजर गयी हों। पहाड़ पर बना वह स्टेशन।

फारेट साहब ने फिर कहा, "मां.... बेटी.... उसका क्या कसूर... उसने अच्छा किया, सोचो जरा.... ऊपर से तो सब स्वारथ है.. पर उसकी भी तो सोचो। वह औरत थी.... सुंदर थी.... और अब भी है...."

मां तड़प कर बोली, "उस चुड़ैल....मुंहझौंसी को बचाने के लिए तूने अपना सब कुछ फूंका-गंवाया.... और उसने उल्टे ऐसा किया..... तुम उसे अब भी अच्छा कहते हो?"

फारेट साहब के मुंह से निकला, "वह और करती ही क्या, वह बहादुर है....उसे प्यार है जीवन से। उसने बहुत समझदारी की...बगल के कमरे से फिर पुरुष की आवाज आयी, "वह अब तक नहीं मरा.... वह कभी नहीं मरेगा.... मैंने यह नहीं समझा था कि तुम इस कदर की चालबाज हो। तुम्हें पता नहीं....मैं अब कुछ नहीं कह सकता....'आई एम सॉरी'.... यू नो....!"

सुलोचना ने जवाब में धीरे स कुछ कहा था। फिर दोंनो कमरों में सन्नाटा छाया रहा। हवा फिर बहने लगी थी। खिड़की आज भी खुली थी। एक बार वह सन्नाटा कांपा और उसमें से सुलोचना की आवाज कौंधी–

"सिर्फ एक बार मुझे देखने के लिए....!"

फारेट साहब ने कहा, "बेटी, मां को बुलाओ....एक बार...."

उसी क्षण सुलोचना पहली बार कमरे में आयी। जड़वत् खड़ी रह गयी। यशोदानंदन-फारेट साहब ने वही एक बचा हुआ हाथ उठाना चाहा। पर वह हाथ कांप कर बिस्तर पर ही स्थिर रह गया। न जाने कहां की एक मुस्कराहट उनके मुंह पर चमकी और उन्होंने धीरे से कहा, "सुखी रहो....क्षमा करना।"

और वे अचेत हो गये। फिर वह चेतना नहीं लौटी। मां-बेटी फारेट साहब की लाश के पास रात भर अविचल बैठी रहीं। और रात भर बगल के कमरे में सुलोचना और उस पुरुष में लड़ाई होती रही। रात भर.... वही। लग रहा था, उस रात जैसे फिर डाकू आये थे!

(१९७२)

आत्मकथन

दोनों की वह पहली दीवाली की रात थी। वह खड़ा चुपचाप देख रहा था, उसकी पत्नी सोलहों शृंगार किये घर, आंगन, बरामदा, चौका, चूल्हा, यहां तक कि कबाड़खाने वाले कमरे में भी दीपक रखती चली जा रही थी।

छोटे देवर और दो कुंवारी ननदें छत की मुंडेर पर चारों ओर किनारे-किनारे मोमबत्तियां जला कर सजा चुकी थीं।

ससुर जी पिछले तीन दिनों से अब तक घर नहीं लौटे थे. कयथाना टोले में परमात्माप्रसाद रायजादा के घर जुआ खेलने में लगे थे।

बरामदे से अचानक सासूजी ने टोका– "बहू, घूंघट में रहो! आज दीवाली की रात है।"

"तो क्या हुआ, मांजी!"

"आने-जाने वाले लोग तुम्हें घूर-घूर कर देख रहे हैं।"

"तो क्या हुआ?"

यह कह कर वह घर-आंगन, छत, बरामदे और पिछवाड़े घूम-घूम कर जलते हुए चिरागों और फैलती हुई रोशनियों को देखने लगी।

ननदें आ-आ कर कह जातीं– "भाभी, आज घूंघट उठा दिया है। कितनी सुंदर लग रही हो!"

वह आंगन पार कर बाहर बरामदे में गयी। बरामदे से सीधे अपने कमरे में गयी। खूब सजा हुआ था कमरा।

वह पलंग।

जैसे असली सुहागरात आज ही हो।

धीरे से वह कमरे में आया। पीछे से उसके कंधों पर हाथ रखते हुए बोला– "थोड़ा घूंघट कर लो न, मां बहुत बुरा मान रही हैं।"

वह तपाक से बोली– "मेरे खानदान की परंपरा है, ससुराल में पहली दीवाली की रात कोई किसी तरह का परदा नहीं किया जाता।"

वह उसका मुंह देखता रह गया।

आगन से मां की आवाज सुनाई दी– "यह हमारे घर की चलन नहीं है। बहू को बहू की तरह रहना होगा!"

उसने अपने माथे पर थोड़ा-सा आंचल खींच लिया। सासूजी के सामने हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी। सासूजी ने दुआएं दीं। वह खिलखिलाती हुई अपने कमरें में भागी। कमरे को भीतर से बंद कर लिया। खिड़कियां परदों से ढक दीं। और उसके गले में बांहें डाल कर वह बोली– "अब बताओ, आज की रात तुम्हारे यहां और क्या होता है?"

वह घबरा कर बोला– "विनीता, तुम मेरी पत्नी हो ।"

वह हंसने लगी– "यह भी कोई कहने की बात है।"

"मैं तुम्हारा पति हूं।"

अब वह ठहाका मार कर हंस पड़ी। वह घबरा कर बोला– "पिताजी जुआ खेलते हैं– फ्लास– दीवाली के तीन दिनों पहले से और दीवाली के तीन दिनों बाद तक।"

"मांजी क्या करती हैं?"

"कुछ नहीं।"

एक हलकी-सी चुप्पी छा गयी।

वह आलमारी की ओर बढ़ी। नये डिब्बे में से शराब की बोतल निकालकर पलंग पर रख दी। पलंग के नीचे से पानी की बोतल, बर्फ भरा बड़ा-सा कटोरा, तली हुई कलेजी, कटी हुई प्याज और कबाब की टिकियां, सब चीजें एक-एक कर सजा दीं।

उसे पलंग पर खींचते हुए बोली– "लो, पियो! खाओ! खूब...!"

विश्वनाथ आश्चर्यचकित था। विनीता कमरे से बाहर जाने लगी।

"विनीता!"

"क्या?"

"यह सब क्या है?"

"जो है...!"

"कहां जा रही हो?"

"सबको रसोई में खाना परोस कर आती हूं।" और वह तेजी से चली गयी।

उसी के हाथों बाहर से दरवाजा फिर बंद हो गया।

वह कमरे में लौटी। देख कर बच्चों की तरह हंसने लगी। वह बुत-सा पलंग पर चुपचाप बेठा था।

"तुमने अब तक बोतल भी नहीं खोली?" यह कह कर उसने व्हिस्की की बोतल को एक ही मरोड़ में खोल दिया।

"दोनों गिलासों में बनाओ।"

"विनीता...!"

"हम दोनों साथ पियेंगे। यह मेरे यहां की रस्म है।"

"पर इस घर की नहीं है।"

"हम कायस्थ हैं..... तुम रायजादा, सक्सेना, मैं श्रीवास्तव।"

"तुम्हारे यहां शराब पी जाती है?"

"बिल्कुल।"

"औरतें भी पीती हैं?"

"क्यों नहीं?"

"लड़कियां भी? तुम भी?"

इस बीच अपने हाथों से दोनों गिलास बिल्कुल तैयार कर एक गिलास उसके हाथ में देकर बोली- "होली-दीवाली की रात हमारे यहां इसी तरह शराब पी जाती है। चीयर्स.....!"

दोनों ने एक ही सांस में अपने-अपने गिलास खाली कर दिये।

वह बोली– "पहली दीवाली को हम बिल्कुल झूठ नहीं बोलते।"

"हम भी नहीं बोलते।"

"सच?"

"बिल्कुल सच।"

दोनों मजे से खाने-पीने लगे। कमरे के दो चिराग मद्धम होने लगे। वह उठ कर उनमें तेल डाल आयी। लौ तेज हो गयी।

वह गिलास खाली करते हुए बोला– "इससे पहले तूने क्यों नहीं बताया।"

"मैं सिर्फ होली और दीवाली की रात पीती हूं।"

"कब से?"

"आज से.... इसी दीवाली से!"

"तुम तो कहती थीं...."

"हां-हां, सब पीते थे, सिर्फ मैं ही नहीं पीती थी।"

"फिर आज क्यों?"

विनीता चुपचाप अपना दूसरा गिलास पीने लगी।

"धीरे-धीरे पीयो।"

"मालूम है।"

"बस, पहली बार इससे ज्यादा नहीं पीते।"

"एक बात बताओ।"

"पूछो।"

"आज रात झूठ तो नहीं बोलोगे?"

"नहीं।"

"इसकी कसम खाओ।"

"कसम....!"

"कमरे में चुप्पी छा गयी। जलते हुए चिरागों की लौ रह-रह कर कांप उठती।"

विनीता ने पूछा– "आदमी को विवाह से भी ऊपर किसी और संबंध की भूख होती है?"

"होती है।"

"क्या?"

"भूख ही नहीं, उसका मोह भी होता है!"

"वह कौन है?"

उसने गिलास में शराब डालते हुए कहा– "एक सवाल तुमने पूछा, मैंने जवाब दिया। अब एक सवाल मैं पूछूं?"

"हां, बेशक।"

"तुमने आज पहली बार इस तरह क्यों पी?"

वह मुस्कराती हुई बोली– "सवाल को तोड़ो नहीं, पूरा पूछो। इस तरह तुम आज मेरे साथ पहली बार क्यों पी रही हो?"

"ठीक, क्यों पी रही हो?"

उसने गिलास को अपने निचले ओंठ पर टिका लिया और गिलास के भीतर से उसे निहारने लगी। धीरे-धीरे गिलास खाली हो गया। वह बोली– "इसीलिए कि तुम सिर्फ दीवाली की रात को ही उसके साथ पीते हो। पिछले तीन वर्षों से। और आज इस समय वह तुम्हारे फोटो को अपने सामने रख कर अकेली पी रही होगी।"

विश्वनाथ को विनीता ने जैसे पलंग से उलट कर जमीन पर दे मारा हो। उसका सारा चेहरा सुर्ख हो गया। पलंग से उठते हुए उसने पूछा– "यह सच है, पर तुम्हें कैसे पता?"

"उसी ने खुद बताया?"

"कब? कैसे?"

"जिस दिन तुम मुझे ब्याह कर यहां ले आये। वह मुझे देखने आयी थी। फिर तुम उसे अपने साथ लेकर पिछवाड़े के कबाड़खाने वाले कमरे में गये थे। वहां तुमने उसे प्यार किया और वचन दिया– कुमुद, मैं जब तक जिंदा रहूंगा, तुमसे प्यार करूंगा। वह रोती रही। तुम उसके आंसू पोंछते रहे। वह जब फिर मेरे पास लौटी, तब उसकी आंखें बेतरह सूजी हुई थीं। सूखी थीं। वह बेहाल थी। उसने मुझे सब कुछ बता दिया। वह....."

विश्वनाथ ने गुस्से में कहा– "वह लड़की बदमाश है! झूठी है! हमारे जीवन को नष्ट करना चाहती है! वह आवारा है! चरित्रहीन है! उससे मेरा कोई संबंध नहीं।"

विनीता ने उसे पकड़ कर पलंग पर लिटा लिया। उसे प्यार करने लगी। अपने हाथ से उसे कबाब खिलाने लगी।

नया गिलास बना कर पहला घूंट पिया, खुद फिर उसके होंठों पर लगा दिया।

पलंग पर औंधे लेट कर वह कहने लगा– "हां, उससे मेरा प्यार था। उसके घर के सारे लोग दीवाली की रात जुआ खेलते रहते और हम दोनों उसके घर के पीछे कबाड़खाने वाले कमरे में रात भर शराब पीते। वह बहुत अच्छी थी..... निहायत नेक। उसका प्यार बिल्कुल सच्चा था।"

वह उसके मुंह के पास अपने होंठ ले जाकर बोली– "और अब वह झूठी हो गयी? आवारा, चरित्रहीन हो गयी?"

"हां।"

"क्यों? कैसे?"

"क्योंकि मेरा प्यार उससे झूठा था।"

विनीता हंसने लगी। वह चुपचाप उसका मुंह निहारने लगा। वह कहने लगी– "सुनो यार, प्यार भी कभी झूठा होता है?"

वह गम्भीर होकर बोला– "फिर वह कायर क्यों बनाता है?"

"किसे?"

"मुझे।"

दोनों गिलासों को भर कर वह हवा में उन्हें टकराने लगी। एक उसके हाथ में देकर बोली– "सच बोलो, तुमने कुमुद को मेरे सामने इतनी भद्दी गालियां क्यों दीं?"

"बता दूं?"

"कह डालो।"

"तुम्हारी नजरों में ऊंचा उठ जाने के लिए।"

"अगर तुम इससे मेरी नजरों में और नीचे गिर गये हो, तो?"

वह एकाएक तड़पा– "मैंने झूठ कहा था। कुमुद बहुत नेक, शरीफ, चरित्रवान लड़की है। मैं उससे प्यार करता था।"

"झूठ। अब भी झूठ।"

"हां,अब भी झूठ... मैं उससे प्यार करता हूं, पर शादी मैंने तुमसे की।"

विनीता चुप हो गयी। उसके हाथ का खाली गिलास पलंग पर लुढ़क गया। उसका आंचल उसकी जांघों पर आ गिरा था। उसका सारा यौवन विश्वनाथ के सामने दमक रहा था।

वह बड़े थके स्वर में बोली– "मैंने भी किसी से प्यार किया है। हम हर पूर्णमासी की रात छत पर बैठ कर शराब पीते थे। कभी अपने घर की छत पर, कभी उसके घर पर। एक दिन उसने कहा– मैं तुम्हें चाहता हूं। मैं बोली– यह भी कोई कहने की बात है! फिर वह मेरी ओर इस तरह झपटा जैसे वह कोई पशु हो और मैं उसका शिकार हूं। मैंने उसके मुंह पर झापड़ मारा। वह मुझे मारने लगा और मुझे नंगा करने के लिए लड़ने लगा। मैं नंगी हो गयी। फिर वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसके बाद हमारी एक दूसरे से कभी मुलाकात नहीं हुई।"

इतना कह कर वह चुप हो गयी। अपने गिरे हुए आंचल को माथे पर रख कर बोली– "आज यह शराब मैं उसी की याद में पी रही हूं।"

विश्वनाथ के मुंह से फूटा– "मैं भी यह शराब उसी कुमुद क
याद में पी रहा हूं।"

कमरे के सारे चिराग एक-एक कर बुझते चले गये थे। कमरे
कब अंधेरा आया, कब सिरहाने का टेबल लैंप जला, किसी को न
पता।

विनीता उठी। खिड़कियों को खोलकर उन पर से परदों
किनारे खींच कर बाहर देखा, सुबह हो रही है।

बोतल में थोड़ी-सी शराब शेष थी। विश्वनाथ पलंग पर औं
पड़ा था। विनीता ने अपनी दायीं हथेली में शराब उड़ेल ली और उ
विश्वनाथ के मुंह पर लगा दिया।

"यह क्या करती हो?"

वह बोली– "तुम मेरे पति नहीं हो, मेरे विश्वनाथ हो।"

वह अपलक उसे देखने लगा। दोनों एक-दूसरे को बांहों में भर
लगे।

उसने कहा– "सारी खिड़कियां खुली हैं।"

वह हल्के-से बोली– "तो क्या..."

अचानक आंगन से माताजी के रोने की आवाज आयी। विनी
दौड़ी, वहां मांजी के अलावा और कोई नहीं था।

"क्या हुआ? आज रो क्यों रही हैं?"

माता जी दर्द से कराहती हुई रो रही थीं।

विश्वनाथ ने कहा– "पिताजी जूए में हार कर घर आये होंगे
मां को पीट कर उसके बचाये हुए सारे रुपये लेकर चले गये हैं। अ
पिताजी जरूर जीत कर लौटेंगे।"

मां ने सिसकते हुए कहा– "ऐसा होता है इस घर में...!"

विश्वनाथ ने अचानक बात काट दी– "अब ऐसा इस घर
नहीं होगा।"

मां ने आंसू पोंछते हुए कहा– "क्यों नहीं, वह मेरे पति हैं, व
जो चाहें कर सकते हैं।"

विश्वनाथ के मुंह से निकला– "तुम इन्सान नहीं, जानवर हो, मां! तुमने मुझे जन्म क्यों दिया?"

"जवान संभाल कर बोलो, हां, नहीं तो! तुझे जन्म भगवान ने दिया और पति ही भगवान होता है।"

विश्वनाथ कटे पेड़ की तरह मां के कदमों पर गिर पड़ा।

"मां, आज सच बोल दो!"

"कैसा सच?"

"जो भीतर सोचती हो।"

"भीतर क्या है रे....?"

पत्थर की मूरत की तरह मां आंगन के उस शून्य में देखती रह गयीं।

(१९७५)

लक्ष्मीनारायण लाल
की प्रतिनिधि कहानियाँ